योगीन्द्रसमुच्चयविरचित

आनन्दसमुच्चयो नाम योगशास्त्रम्

सं. विजयशीलचन्द्रसूरि

(परिचय)

समुच्चय नामना कोई विलक्षण योगी पुरुषे बनावेलो '**आनन्दसमुच्चय**' नामनो योगशास्त्र-विषयक ग्रन्थ, कदाच प्रथमवार, अहीं प्रकाशित थई रह्यो छे. उपलब्ध मर्यादित स्रोतो थकी, आ ग्रन्थ तथा आ योगी विषे जाणकारी मेळववानो प्रयास निष्फल ज नीवड्यो छे. आम छतां, बे वातो निश्चयपूर्वक कही शकाय तेवी छे : १. आ ग्रन्थनी मारी पासेनी हाथपोथी अनुमानतः १५मा शतकनी जणाई छे, तेथी ग्रन्थकर्ता ते पूर्वे थया छे, अथवा ते पूर्वे आ ग्रन्थनी रचना थई छे, एम सिद्ध थई शके तेम छे. अने २. ग्रन्थकर्ता नाथसम्प्रदायना योगी-सिद्ध पुरुष छे तेवुं, ग्रन्थारम्भे ज, कर्ताए ज, वर्णवेली गुरुपरम्परानां-नामो जोतां समजी शकाय छे. प्रथम ए नामो ज आपणे नोंधीए : -

१. बुद्धनाथ, २. चैत्यनाथ, ३. लोकनाथ, ४. संवर, ५. जालन्धर, ६. कृष्णनाथ, ७. रुद्र, ८. निरञ्जन, ९. कठमठनाथ, १०. परमाणुदेव, ११. समुच्चय (ग्रन्थकार).

आमां प्रथम चार नामो वांचतां बौद्ध सिद्धो याद आवे. नामोमां पण बुद्ध दर्शननी छाप लागे. जालन्धर ते तो गोरख सम्प्रदाय के नाथ परम्परामां प्रसिद्ध नाम छे ज. कृष्णनाथ ते कान्हपा के कानीफनाथ साथे सम्बन्धित नाम लागे.

अलबत्त, ग्रन्थकार शुद्धतया योगमार्गना ज प्रवासी साधक छे, अने कोई खास धर्म के दर्शनमां बंधायेला नथी, तेनो ख्याल तो ग्रन्थना मङ्गलाचरणना पद्यथी तेमज अन्तिम प्रकरणमां छए दर्शनोनी योगपरकता जे रीते सिद्ध करी आपी छे ते परथी आवी जाय छे.

ग्रन्थमां योगशास्त्र-सम्बद्ध विशिष्ट पदार्थोनुं विशद अने मार्मिक प्रतिपादन करवामां आव्युं छे. एनुं विवरण के तेनो परिचय आपवानुं काम तो योगमार्गना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कोई विलक्षण साधक ज करी शके. आ विषयना तद्दन अनभिज्ञ एवा मारा जेवानुं ते काम नहि. परन्तु एक वात कही शकुं के मारी अल्पस्वल्प समजण अनुसार, आ ग्रन्थमां जे क्रमथी, जे विशदतापूर्वक, जे योगविषयक पदार्थो तेमज प्रक्रियानुं निरूपण थयुं छे, ते अन्यत्र क्यांय, होय तो पण, अद्यावधि जोवा-जाणवामां आवेल नथी. अमनस्कयोग, गोरक्षसंहिता, घेरण्डसंहिता इत्यादि ग्रन्थोमां आ विषयोनुं प्रतिपादन होय तो ते संभवित गणाय. नाथ-परम्परामां अथवा तो गोरखवाणीमां आ विषयो प्रख्यात होवा ज जोईए. श्री मकरन्द दवेना एक पुस्तकमां हमणां ज एक कण्डिका जोवा मळी. गोरखनाथनी कृति छे :

"सोलह कला चन्द्र प्रकासा, बारहकला भाणं
अनंतकला सिद्धों का मेला, रह गया पद निर्वाणं"

प्रस्तुत ग्रन्थना ५-६ प्रकरणनो विषयसंकेत ज आमां मळे छे !

समग्र ग्रन्थ आठ प्रकरणोमां निबद्ध – वहेंचायेलो छे. तेनां नामो क्रमशः आ प्रमाणे छे : १. स्थान प्रकरण; २. नाडी प्रकरण; ३. मन्त्रप्रभाव प्रकरण; ४. ध्यानभेद प्रकरण; ५. चन्द्रकर्म प्रकरण; ६. सूर्यकर्म प्रकरण; ७. सिद्धि प्रकरण; ८. मुक्ति प्रकरण. कुल २८० जेटला श्लोकोमां पथरायेलो आ ग्रन्थ छे.

प्रारम्भना ११ श्लोको प्रस्तावना जेवा छे, जेमां मङ्गल, गुरुपरम्परा दर्शावीने ग्रन्थरचनानो हेतु बताव्यो छे (श्लोक ९) : "योगशास्त्रो तो सेंकडो छे, पण केटलांय शास्त्रोमां स्पष्ट अर्थो नथी; केटलांकमां स्पष्टता छे, तो पण सम्पूर्णता के पूर्णतः स्पष्टता नथी. तेथी हुं लीलामात्ररूपे आवी खोट दूर करतुं आ शास्त्र रचुं छुं." तो १०-११मां पद्योमां कर्ता आ शास्त्रनुं साफल्य आ रीते वर्णवे छे : "बुद्धिमान् वादीओमां बीजी कोई पण बाबतमां प्रायः संवाद भले न सधातो होय, परन्तु, जो मोक्षमार्ग प्रत्ये आस्था होय तो, आवा अध्यात्मपरक प्रतिपादनमां लेश पण विसंवाद न ज थाय. अरे ! मोक्षमार्गना सहज शत्रु मनाता नास्तिको पण आ शास्त्रना उपदेशना अमलथी अनुभवाता प्रत्यक्ष लाभो विषे, अथवा ते लाभो थवाथी आ योगमार्ग विषे श्रद्धावंत थवाना ज."

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आवा विश्वास साथे कर्ता प्रथम प्रकरणमां 'स्थान'नुं निरूपण मांडे छे. तेमनुं कथन छे के "धर्म अने मोक्ष एम बे पुरुषार्थ छे जरूर; पण शरीरमां त्रिदोष आदि विविध दोषो संभवता होई पहेलां धर्म-पुरुषार्थमां ज प्रयत्न थाय ते जरूरी गणाय, शरीरने सुस्थित बनाववा माटे. शरीरमां स्थिरता आवे तेवां कर्म अहीं वर्णववानां छे; ते कर्मो 'स्थान'मां वर्तनारा चित्तने आधीन छे. ते 'स्थानो' नुं नामादि स्वरूप विशदताथी कर्ता आलेखे छे, जेनुं तत्त्व योगसाधकोने समजाय तेम छे. ४३मा पद्यमां विविध पदो (स्थान) हांसल थतां थतां छेवटे मळनारा 'परम पद'नी वात छे. पद्य ४४मां शरीर, सूक्ष्म शरीर, ऊर्ध्व शरीरनां माप वर्णवायां छे.

बीजा नाडी प्रकरणमां ईडा, पिङ्गला आदि नाडीओनुं वर्णन थयुं छे. त्रीजा प्रकरणमां विविध स्थानो परत्वे मन्त्रबीजाक्षरो तथा तेना प्रभावनुं मार्मिक वर्णन थयुं छे. बीजाक्षरो पण नोंधेल छे. तो चोथा प्रकरणना प्रारम्भे ज कर्ता कही दे छे के "ज्यां सुधी ध्यानसाधना न थाय त्यां लगी आ मन्त्रो फलीभूत थाय नहि, माटे आ प्रकरणमां ध्याननुं विधान करुं छुं." अने ते रीते ज आ प्रकरणमां ध्यान धरवानी प्रक्रिया तेमज ते ते मुद्रामां ते ते प्रयोजन माटे जपवाना मन्त्राक्षरो वगेरेनुं स्पष्ट वर्णन करेल छे. तेनां फल पण वर्णव्यां ज छे.

पांचमा चन्द्र-कर्म प्रकरणमां १६ कलाओ –'शङ्खिनी' वगेरे – तथा 'शङ्खसारण' वगेरे ४२ कर्मोनां नाम तथा काम वर्णवेल छे. छठ्ठां सूर्यकर्म - प्रकरणमां सूर्यनी १२ कलाओ तथा ४२ कर्मोनां नाम - काम आदिनुं विस्तृत वर्णन थयुं छे.

सातमा प्रकरणमां पांच भूत-तत्त्वोनी सिद्धि वर्णवाई छे. क्यारे कयुं तत्त्व गौण के प्रधान होय, शेनी वध-घट क्यारे ने शी रीते-शा कारणथी थाय, तथा पांच तत्त्वोनी सिद्धि कोने मळे तथा तेना फल-फायदा शा, तेनुं वर्णन आ प्रकरणमां थयुं छे.

आठमा प्रकरणमां मन-इन्द्रियो-शरीरने वश करवापूर्वक मुक्ति केम मळे तेनुं तात्त्विक चिन्तन थयुं छे. आमां ११मा पद्यमां कर्ता भूमिका बांधतां स्पष्ट जणावे छे के "जेम नदीओ पोतानामां मस्त होवा छतां समुद्रमां प्रवेश करे छे, तेम छए दर्शनोना तत्त्वमार्ग जुदा भले होय तो पण छेवटे तो समाधि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अने योगना मार्गमां ज तेमणे आववुं पडे छे." आ पछी क्रमशः छए दर्शनवाळा केवी रीते योगमार्गनो स्वीकार करे छे तेनुं विशद चित्र कर्ता आपे छे.

एमां प्रथम शाक्य-सौगत (बौद्ध) दर्शनीओनी वात छे. दरेकनुं पोतानुं- पोताना दर्शननुं तत्त्वप्रतिपादन ज योगमार्गपरक होय छे तेवी प्रस्तुति, ते ते दर्शनना तत्त्वोनी वात लईने कर्ता करे छे, ते बहु ज रोचक अने हृदयंगम लागे छे. १२-१४ पद्योमां '**सौगत**'नी वात थई छे. १५-१९मां **नैयायिकोनी** वात छे. २०-२५मां सांख्योनो स्थिति दर्शावी छे, २६-३०मां **मीमांसकोनी** योग-साधना-परक स्थिति वर्णवी छे. तो ३१-३२ एम बे पद्योमां '**चार्वाक**' नी पण योगोपासना बतावी दीधी छे.

'चार्वाक' भूत (भौतिक जगत्) नो ज स्वीकार करे छे. तो तेने कहे छे के "भूतसिद्धि समाधि सिद्ध थया विना थाय नहि अने भूतसिद्धि थाय तेने ज अमे 'मुक्त' आत्मा गणीए छीए. एटले हे नास्तिक ! जो 'भूत' सिवाय तारा चित्तमां कशुं ज अभिप्रेत न होय तो तुं पण 'मुक्त' ज गणाय."

छेल्ले जैन दर्शननी वात ३३-३५ पद्योमां करवामां आवी छे. आमां कर्ताए जैनमतना प्रवर्तक '**जिन**'नी जगत्प्रसिद्ध मुद्रानी वात अत्यन्त सुघडताथी करी छे : "नासिकाने टेरवे पोतानी दृष्टिने टेकवीने, पद्मासनमां कायाना शिथिलीकरणपूर्वक बेठेला '**जिन**' तो, वर्तमान युगना लोकोने, पोतानी आवी अद्‌भुत मुद्रा द्वारा ज ध्यानमार्ग समजावी दे छे !" पछीनां २ पद्योमां जिन भगवाननी साधनानो अर्क कर्ताए तारवीने आपी दीधो छे ! आवुं तादृश वर्णन तो कोई नीवडेल योगी ज करी शके !

पद्य ३७-३८ मां समापनसूचक वचनो छे. तेमां कर्ता कहे छे के '**परमाणु गुरु**' नी वाणीमांथी प्रगटेल आ वचनामृतने अल्पोक्ति जेवां विकल्पात्मक वचनो वडे कोई मलिन न करशो. केम के निरीह एवा सिद्धोनां वचनो कदी पण विपरीत होतां नथी.

आ पछीनां पद्यो उपसंहारात्मक छे.

पांच पानांनी आ प्रति महदंशे शुद्ध-अतिशुद्ध छे. क्यांक कोईक पाठ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तूटतो जोवा मळे छे. ते माटे आ ग्रन्थनी अन्य प्रतिओ शोधवी रही. कर्तानुं भाषा, कवित्व, छन्द आदि परनुं प्रभुत्व अद्भुत कहेवुं पडे तेवुं छे, तेनो अनुभव काव्ये काव्ये विद्वानोने थशे तेमां संशय नथी.

आदर्शभूत प्रति **खम्भात** स्थित **श्री विजयनेमिसूरिज्ञानशालाना** भण्डारनी छे. तेमां अनेक स्थाने लेखके पाठान्तरो पण नोंध्यां छे, तेमज टिप्पणो पण लखेल छे. ते दरेकनो आ सम्पादनमां समावेश कर्यो ज छे. आ ग्रन्थनी बीजी प्रति शोधवा माटे घणी मथामण करी. परन्तु आनी प्रत तो क्यांय होवानी भाळ न मळी, बल्के कोईने आ ग्रन्थ तथा कर्ताना नाम विषे जाणकारी पण न होय तेवुं लाग्युं. फक्त कोबाना **श्री कैलाससागरसूरि ज्ञानभण्डारमांथी** विद्वान् मुनिश्री अजयसागरजीना प्रयत्नथी आ ग्रन्थनी एक अर्वाचीन अशुद्ध प्रति मळी, जेनो उपयोग एकाद स्थाने पाठपूर्ति माटे थई शक्यो छे. ते संस्थानो आ माटे आभार मानुं छुं.

कोईक विशिष्ट योगाभ्यासी साधक आ ग्रन्थनो रूडो अभ्यास करे, अने आमां प्रतिपादित बाबतोनो रसथाळ जिज्ञासुओ समक्ष खुल्लो मूके तेवी भावना साथे विरमुं.

आनन्दसमुच्चयः ॥

ॐ नमः श्रीपरब्रह्मणे ॥

यत्र वित्रासमायान्ति तेजांसि च तमांसि च ।
चिदानन्दमयं वन्दे महीयस्तदहं महः ॥१॥

प्रबुद्धनिःशेषपदार्थतत्त्वः **श्री बुद्धनाथः** प्रथमं पुनातु ।
विश्वत्रयीप्रीणनबद्धबुद्धिः **श्रीचैत्यनाथः** श्रियमातनोतु ॥२॥

जयति जगदरिष्टोपद्रवद्रावहेतुस्त्रिभुवनजनरक्षादक्षिणो **लोकनाथः** ।
तदनु जयति विश्वप्लावनोद्भ्रान्तमोहार्णवनियमनलीलासंवरः **संवरश्च** ॥३॥

जयति निबिडमाद्यद्दम्भसंरम्भमुद्राविघटनपटुरुच्चैः किञ्च **जालन्धराख्यः** ।
धवलयतु जगन्ति स्फारताराधिनाथद्युतिविजयियशोलिः **कृष्णनामापि नाथः** ॥४॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वशंवदीभूतसमस्तसिद्धि - र्भद्राणि **रुद्रस्तनुताज्जनस्य** ।
ज्योतीरसाश्मद्युतिचितवृत्ति - **निरञ्जनः** कल्मषमुच्छिनत्तु ॥५॥

नाथः कठमठनामा कामादिविपक्षपक्षजिज्जयति ।
श्रीमत्परमाणुगुरुं गुरुमहिमनिकेतनं नौमि ॥६॥

नटत्वं किं तत्त्वं पिहितविषये वेषविषये
न दम्भः संरम्भः किमु [य]ममये स्वस्वसमये ।
अजिह्मं न ब्रह्म प्रमदकलिते योगललिते
गुरुत्वं सत्त्वं वा यदि न **परमाणोः** परिणतम् ॥७॥

एतस्मात् **परमाणुदेवसुगुरो**स्तत्त्वामृताम्भोनिधे -
र्यः प्राप्त् परमप्रसादसुभगं तत्त्वोपदेशामृतम् ।
तेनाऽऽ**नन्दसमुच्चया**भिधमिदं शास्त्रं जगज्जीवनं
योगीन्द्रेण समुच्चयेन रचयाञ्चक्रे कृपाम्भोभृता ॥८॥

शास्त्राण्यत्र परःशतानि भुवने सन्त्येव किन्तु स्फुटो
नार्थः केष्वपि केष्वपि[1] स्फुटतरोऽप्यर्थः समस्तो नहि ।
शास्त्रेऽमुत्र ततो गिरां पुर इव प्रादुर्भवद्वस्तुनि
स्फीतार्थग्रथिते फलेग्रहि मम स्यादेव लीलायितम् ॥९॥

नानाकारैर्मतिर्विचारचतुरा[2] न प्रायशो वादिना -
मन्योन्यस्य समस्तवस्तुषु वचःसंवादमेदस्विनाम्[3] ।
किन्तु स्यादपवर्गमार्गविषयश्रद्धावतः कस्यचि-
न्नाध्यात्मप्रतिपत्तिपर्वणि विसंवादप्रवादः क्वचित् ॥१०॥

अध्यात्मसिद्धिजनितं जनतातिवर्ति
प्रत्यक्षसिद्धमखिलं फलमश्नुवानः ।
अत्रोपदिष्टमपवर्गनिसर्गवैरी
न श्रद्दधीत किमु नास्तिकपुङ्गवोऽपि ? ॥११॥

---

१. तेष्वपि । २. ०मतिप्रचारविधुरा । ३. मेदस्विता ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इह प्ररोहत्पुरुषार्थपल्लवा प्रायः प्रवृत्तिर्मतिशालिनां मता ।
परापरत्वव्यतिभिन्नवैभवं द्विधा च सन्तः पुरुषार्थमभ्यधुः ॥१२॥

परं शरीरे शरदभ्रगर्भ - सगर्भता निर्भयमभ्युदेति ।
बलूल-वातूल-विलोलतूल-लीला समुन्मीलति जीवितेऽपि ॥१३॥

ततः पुमर्थे प्रथमे हि देहिना - महो ! विहर्तुं पदवी दवीयसी ।
दधुर्ममाप्यर्थसमर्थनास्पदे पदं तदस्मिन्नपरे गिरः पुरः ॥१४॥

स्थेमानमानेतुमतः शरीरं कर्माणि निर्मातुमुपक्रमोऽयम् ।
स्युः स्थानकस्थायिनि तानि चित्ते तदुच्यते स्थानकचक्रवालम् ॥१५॥

ध्रुवस्य चक्रं धुरि दक्षिणस्य चक्रं ततः कुण्डलिनीमुखस्थम् ।
स्वयम्भुवो लिङ्गपदस्य चक्रं देवीगुहास्थानमथापि चक्रम् ॥१६॥

चक्रं वायो रेचकस्योदयार्थं, पश्यन्ती वाक् स्थानचक्रं तदूर्ध्वम् ।
चक्रं चातः सूर्यरज्यत्कलाया - स्तस्माच्चक्रं गुप्तवातोदयाय ॥१७॥

ऊर्ध्वं तस्मादादिरक्तस्य चक्रं चक्रं चाऽन्यद् यत्र नादोऽभ्युदेति ।
आहुश्चक्रं कुण्डलिन्याश्च तस्मा- दादेश्चक्रं कूर्मचक्रं तदूर्ध्वम् ॥१८॥

चैतन्यचक्रादथ देहकन्दो वराङ्गचक्रादपि शक्तिचक्रम् ।
तस्योपरिष्टादथ मूलकन्द - स्ततोऽपि चन्द्रद्युतिमण्डलं च ॥१९॥

आधारचक्रं गुद-लिङ्गमध्ये, पर्णैश्च वर्णैश्च युतं चतुर्भिः ।
पुरीषभाण्डस्य ततोऽपि चक्रं चक्रं तथाऽस्योपरि सौत्रभाण्डम् ॥२०॥

साधिष्ठानं लिङ्गमूलेऽथ चक्रं युक्तं षड्भिस्तच्च वर्णैर्दलैश्च ।
विज्ञातव्यं तस्य नाभेश्च मध्ये बद्धं सिद्धैरुड्डियाणाख्यपीठम् ॥२१॥

रोमोत्पत्तिस्थानचक्रं तदूर्ध्वं सार्द्धास्तिस्रः स्युर्यतो रोमकोट्यः ।
अस्थ्युत्पत्तिस्थानचक्रं च तस्मात् षष्टिर्यस्मात् त्रीणि चास्थ्नां शतानि ॥२२॥

चक्रं शुक्रप्रभवमथ चोत्पत्तिचक्रं कलाया -
श्चक्रं चाऽन्यत् तदुपरि यतः षड् रसाः प्रोल्लसन्ति ।
चक्रं वायोः प्रसरति रसो यत्र चान्नोदकानां
चक्रं चाऽऽस्ते प्रकटपवनः श्वासरूपो यतः स्यात् ॥२३॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ब्रह्मग्रन्थिर्नाडिकानां सहस्रै - र्द्वासप्तत्या मूलकन्दीकृतोऽस्ति ।
अन्यत्र्यास्ते चक्रमुज्जृम्भतेऽसौ यस्मिन् वह्निः पाकहेवाकसिद्धः ॥२४॥

एकैकशो दशविभेदविभक्तमस्ति प्राणादिकं पवनपञ्चकमेतदूर्ध्वम् ।
नाभौ ततोऽपि मणिपूरकचक्रमस्ति पत्राणि यत्र दश सन्ति तथाऽक्षराणि ॥२५॥

एतस्माद् गुणतत्त्वबुद्धिविषयस्थानं तथाऽनन्तरं
सिद्धज्ञानगुहापदस्य तु भवेच्चक्रं ततश्च क्रमात् ।
चक्रं मध्यमवाक्पदस्य पृथिवीमुद्रास्पदं चक्रम-
प्यास्ते कुम्भकवायुचक्रमपरं हंसस्य चक्रं ततः ॥२६॥

ह्रींकारचक्रं हृदि कण्ठकस्य चक्रं ततो द्वादशवर्णपर्णम् ।
अनाहतं वक्षसि लक्षणीयं तदूर्ध्वमावेशपदं वदन्ति ॥२७॥

ध्यानस्थानं स्थानमानन्दरूपं तस्मादूर्ध्वं विष्णुदेवास्पदं च ।
कण्ठस्थाने चाथ चक्रं विशुद्धेः पत्राणि स्युः षोडशाऽत्र[१] स्वराश्च ॥२८॥

चक्रं चाऽस्मादधिवसति वाग् वैखरी शब्दशक्ते -
र्मूलस्थानं तदनु ललनानामकं [२]लम्बिकायाम् ।
चक्रं तच्च द्व्यधिकदशभिः शासितं पर्णवर्णै -
रास्ते चाऽन्यत् तदनु पुरुषस्थानतो बुद्धितत्त्वम् ॥२९॥

मुद्रास्पदं च पवनस्य ततोऽम्बुमुद्रा देव्यादिमण्डलमतः क्रमतः समस्ति ।
सारस्वतस्तदनु तिष्ठति वाक्यकन्द-स्तस्माच्च पूर्णगिरिपीठमिति प्रतीतम् ॥३०॥

नासा[३]भ्यन्तरतस्तृतीयतियडाचक्रं प्रकाशा[४]स्पदा -
दाज्ञाचक्रमिदं त्रिवर्णकदलं भ्रूमध्यमालम्बते ।
स्थानं शब्दलयं कपालकुहरस्याऽन्तः प्रतिष्ठां गतं
मूर्द्धन्यूर्ध्वमतः कदम्बकगुहास्थानं समुज्जृम्भते ॥३१॥

तस्मात् पूरकवायुचक्रममुतः पीठं च जालन्धरं
विश्रामाय समस्ति चक्रमपरं षण्णां रसानां तथा ।
तस्याऽनन्तरमस्ति चाऽमृतकलाचक्रं ततोऽपि क्रमाद्
बिन्दुस्थानमथास्ति पञ्चविषयासक्तेन्द्रियाणां पदम् ॥३२॥

१. षोडशाऽस्य ॥ २. घण्टिकायाम् ॥ ३. नासास्या० ॥ ४. प्रकाश्या० ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वारे वसन्ति सततं वपुषः सुषुम्णा - धारा --- मतश्च कदम्बगोलः ।
नक्षत्रमण्डलमतः क्रमतो दलानां यस्मिन् परिस्फुरति विंशतिरष्टयुक्ता ॥३३॥

अतो महापद्मवनं विदुर्बुधाः स्याद् ब्रह्मरन्ध्रं तदन्तरं पुनः ।
अथाऽपरं ब्रह्मपदं प्रचक्षते शुक्रस्य चक्रं च भवेदनन्तरम् ॥३४॥

मूलकुण्डलिनी स्थान - चक्रं सप्तदशच्छदम् ।
एतस्मात् परतः पीठं कामरूपं प्रचक्षते ॥३५॥

सहस्रपत्रान्वितमूर्ध्वशक्ति - चक्रं तदूर्ध्वं ध्वनिचक्रमस्ति ।
स्थानं ततो विस्मरणं विसर्ग - स्थानं ततः क्रोधकृशानुचक्रम् ॥३६॥

चक्रं च स्मरणस्य केवलिलयस्थानं तथाऽनन्तरं
विज्ञातव्यमथोर्ध्वमीश्वरलयस्थानं ततोऽपि क्रमात् ।
स्थानं रुद्रलयं ततोऽपि च भवेद् विष्णोर्लयस्थानकं
स्थानं ब्रह्मलयस्य तस्य च पुरः शक्तेर्लयस्थानकम् ॥३७॥

तद् द्वितीयतियडाह्वयचक्रं ब्रह्मकर्णविवरैक्यगतं यत् ।
षड्दलं तदनु मानसचक्रं नादचक्रममुतः परमाहुः ॥३८॥

सलिलमयमुदस्तादित्यपादाब्जजाग्रद्-
द्युतिमहिमहिमांशोश्चक्रमस्ति क्रमेण ।
इह सकलकलासु स्फूर्तिवर्ण्यासु वर्णा-
नभिदधुरभिरूपाः षोडशाध्यायरूपान् ॥३९॥

स्थानं तस्मादचलवनमित्यस्ति तस्योपरिष्टा-
च्चक्रं चैवाऽमृतमयमिडा-पिङ्गला-शङ्खिनीनाम् ।
चक्रे चक्रं प्रथमतियडेत्युन्मनीचक्रमस्मा-
च्चक्रं चाऽन्यत् तदुपरि भवेदुत्तरस्य ध्रुवस्य ॥४०॥

विश्रामाय च चक्रमस्ति मरुतो लिङ्गं ततः पश्चिमं
चक्रे च भ्रमरस्य तिष्ठति महाशून्यं ततोऽपि क्रमात् ।
आस्ते स्थानमपि त्रिवर्णमपरस्थानं तथाऽनन्तरं
स्थानं मानसवायुपुष्टिलयमित्येतानि सर्वाण्यपि ॥४१॥

१. वायुपृष्ठ० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ततः कायद्वारोपरि पदमशब्दं प्रथमत-
स्ततोऽस्पर्शं तस्मादरसमथ चाऽरूपमपरम् ।
अगन्धं चैतस्मादकुलममलं चापि परत-
स्तदूर्ध्वं चाऽनन्तं समरसमतश्चापि सहजम् ॥४२॥

नित्यं ज्ञानं शिवपदं निरञ्जनपदं तथा ।
शक्तिपदं चाऽऽदिपदं तदन्ते परमं पदम् ॥४३॥

शरीरमेतत् किल देहभाजां स्यादात्मतालैः प्रमितं चतुर्भिः ।
सूक्ष्मं तु तालार्द्धमधो विवृद्ध-मूर्द्धं तु तालेन महद् वदन्ति ॥४४॥

यदत्र मातृप्रतिमापि धात्री [1]गतः क्षतानामपि भूरुहाणाम् ।
शिखाग्ररोधाद् विदधाति नाशं सूक्ष्माङ्गनाशः स्फुटमत्र हेतुः ॥४५॥

अधः शरीरस्य ततः स्थितानि स्थानानि चत्वारि विचारितानि ।
अशब्दधामप्रभृतीनि मूर्ध्नोऽप्यूर्ध्वं पुनः सप्तदशोदितानि ॥४६॥

इति **श्रीसमुच्चय**विरचिते **आनन्दसमुच्चया**भिधाने योगशास्त्रे **स्थान**प्रकरणं प्रथमं समाप्तम् ॥

नैरन्तर्यं स्थानकानुक्रमस्य, ब्रह्मग्रन्थौ कथ्यमाने नहि स्यात् ।
तस्मादेतन्नाडिकानां स्वरूपं, स्थानव्यक्त्या साम्प्रतं कीर्तयामः ॥४७॥

भवन्ति देहे दश मूलनाड्यः प्रत्येकमेतासु वसन्ति भेदाः ।
द्वाभ्यां शताभ्यामधिकाः सहस्राः, सप्त स्फुटस्थाननिवेशभाजः ॥४८॥

इडोत्तरस्यां दिशि भाति तस्यां पुरो यशा पृष्टगता कुहूः स्यात् ।
वामेषु नाशापुटकान्त-नेत्र-श्रोत्रेषु तासां क्रमशः प्रवाहः ॥४९॥

स्फुटतरपरिरम्भा नासिकान्ते नितान्तं
कलयति किल केलिं पिङ्गला दक्षिणेऽस्मिन् ।

---

१. धात्री यतक्षता० ।

Jain Education International	For Private & Personal Use Only	www.jainelibrary.org

पुर इह गजजिह्वा दक्षिणं चक्षुरेति
श्रवणमिदमुपास्ते पृष्टतस्त्वल्मुखाख्या ॥५०॥

नाशान्तःस्था स्पृशति सततं ब्रह्मरन्ध्रं सुषुम्णा
पूषा तस्याः स्फुरति पुरतो गुह्यदेशे वसन्ती ।
गान्धारीति प्रसरति गुदस्थानगा पृष्टतस्तु
ज्ञेयै शङ्खिन्यथ च दशमी देहशाखाचतुष्के ॥५१॥

प्राणः प्राणादिडास्थादुपचयमयते रेचकादित्रयं च
व्याधत्तेऽसौ यशास्थः कृकरमरुदथ क्षुत्तृषोः प्रौढिमानम् ।
वृत्तिं कूर्मः कुहूस्थः प्रथयति नयनामीलनोन्मीलनानां
किं चालस्यप्रणाशं जनयति जगतामुच्चकैर्दीपनं च ॥५२॥

स्यात् पिङ्गला खेलदुदानवायो-रूर्ध्वं रसादेर्गमनं व्यथा च ।
शोषं तथा शूलमुशन्ति सन्तो धनञ्जयाख्याद् गजजिह्विकास्थात् ॥५३॥

नागो वायुर्योयुमस्त्युल्मुखाया[1]-मुद्गारः स्याद् वान्तिरोधश्च तस्मात् ।
किं चोपास्ते यः समानः सुषुम्णां पुष्ट्यारोग्ये साम्यमस्माद् रसादेः ॥५४॥

व्यानात् संग्रहमोक्षसंवृतिविवृत्यादीनि पूषा स्थिताद्
गान्धार्या मलमूत्रशुक्रसरणासक्तीस्तथा पानतः ।
शङ्खिन्यामथ देवदत्तपवनाज्जृम्भासमभ्युन्नतिं
हिक्काङ्गस्फुटनालसत्त्वजडतानिद्रागमांश्चाऽभ्यधुः ॥५५॥

इति **श्रीसमुच्चय**विरचिते **आनन्दसमुच्चया**भिधाने योगशास्त्रे
नाडीप्रकरणं द्वितीयं समाप्तम् ॥

चक्रेष्वमीषु स्फुटवर्णपर्णै - र्भवन्ति चक्राणि नव प्रधानम् ।
तदेषु विस्पष्टफलोत्तरङ्गान् क्रमेण वर्णान् परिवर्णयामः ॥५६॥ १

*ईमित्यस्मात् स्फुरति परमानन्द आधारचक्रे
वर्णादाविर्भवति सहजानन्द ऐमित्यतश्च ।

---

१. संवसत्युल्मुखाया० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वीरानन्दोऽभ्युदयमयते नित्यमोङ्कारवर्णाद्
योगानन्दः पुनरुदयति **क्लीं**मिति व्यक्तवर्णात् ॥५७॥ २

ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रैं ह्रौं ह्रः इत्यक्षरेभ्यः स्वाधिष्ठाने प्रश्रयानुक्रमेण ।
क्रौर्यं तस्माद् गर्वनाशोऽथ मूर्च्छा-ऽवज्ञा चाथ स्यादविश्वासभावः ॥५८॥ ३

ढूमित्यक्षरतः [1]सुषुप्तिरुदये तृष्णा **ज्र**मित्यक्षरा-
दीर्ष्या **ढ्री**मिति वर्णतः पिशुनता **ड्मों** वर्णतो जायते ।
लज्जा **ज्री**मिति वर्णतः प्रभवति **च्र्रैं** वर्णतः स्याद् भयं
म्क्षेमित्यक्षरतो घृणाऽभ्युदयते **ड्क्षौं**तश्च मोहो भवेत् ॥५९॥ ४

क्लींमित्यमुष्मादुदयेत् कषायः **श्रीं** वर्णतश्चापि भवेद् विषादः ।
इति क्रमेण प्रभवन्ति भावा दशापि चक्रे मणिपूरकाख्ये ॥६०॥ ५

भवति **स** इति वर्णाल्लौल्यभावप्रणाशः
कपटमपि **प**वर्णाज्जृम्भते **ठा**द् वितर्कः ।
समुदयमनुतापः[2] पर्युपास्ते **मु**वर्णाद्-
विरचयति **रि**वर्णः शश्वदाशाप्रकाशम् ॥६१॥ ६

छाच्चिन्ता स्फुरति **च** वर्णतः समीहा
मावर्णादथ समता **म**तश्च दम्भः ।
वैकल्यं तदनु **य**तो **ण**तो विवेको-
ऽहङ्कारष्ठत इति सन्त्यनाहतेऽमी ॥६२॥ ७

अ इ उ ऋ लृ ए ओ अं रूपाः स्वराः प्रणवं ततः
क्रमपरमथोद्गीथं हुं फुट् ब(व)षट् परतः स्वधा ।
तदनु च परं स्वाहा तस्मान्नमश्च ततोऽमृतं
तदिति सकलान् सूक्ष्मानम्भः स्वरान् परितन्वते ॥६३॥ ८

आतः खड्ज इती-श्व(स्व)रात्तु ऋषभो गान्धार **ऊ**कारतः
स्याद् **ॠ**तोऽप्यथ मध्यमः स्फुटमथो **ॡ**कारत पञ्चमः ।
ऐतो धैवत **औ** स्वरात् समुदयं धत्ते[3] निषादो विषं
वल्गन्त्यः स्वरतो बहिः पुनरमी चक्रे विशुद्धेः स्वराः ॥६४॥ ९

---

१. सुषुप्तमुदये । २. ०मनुरूपः । ३. दत्ते ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आकाराद् भवति मदः सतश्च मानः
स्नेहः पात् प्रभवति शाक्षराश्च शोकः ।
खेदोऽपि स्फुरति [1]युतो रितश्च लाभो
देर्वर्णादरतिरतः समुज्जिहीते ॥६५॥ १०

चात् संभ्रमो माक्षरतश्च घूर्णिः
श्रद्धा पवर्णादुदयं प्रयाति ।
सन्तोषपोषश्च यतो णकाराद्
ग्रन्थोपरोधो ललनाख्यचक्रे ॥६६॥ ११

श्रींतः सत्तां सात्त्विकोऽभ्येति भावो वर्णाद् भ्रूंतो राजते राजसोऽपि ।
क्लींमित्यस्मात् तामसो मासलः स्या-देते चाज्ञाचक्रमाक्रम्य तस्थुः॥६७॥ १२

हंतः कृपा स्फूर्जति सात् क्षमा च छादार्जवं धैर्यमतो द्वर्णात् ।
विरागता थ्राच्च धृतिश्च फातो हर्षो वितो हास्यमतश्च रीतः ॥६८॥ १३

रोमाञ्चो यो चवर्णात् [2]पामाश्रुगितो सतः ।
स्थिरत्वं च गाम्भीर्यमपि दुवर्णात् कीवर्णादुद्यमः स्फुरति ॥६९॥ १४

स्वच्छत्वमाविर्भवति र्त्तिवर्णा-दौदार्यमूर्जस्वि भवेच्चवर्णात् ।
एकाग्रता प्रीत इतीह भावाः कलाश्रिताः षोडश सोमचक्रे ॥७०॥ १५

अतो मनश्चक्रमवेहि यत्र प्राच्ये दले भूतयुतिस्वभावे ।
श्लंवर्णतः सुप्त इवाग्निरूपो घ्नन्तश्च याम्ये तु रसोपयोगः ॥७१॥ १६

घ्राणं गन्धवहात्मके वरुणदिक्पत्रे स्रुमित्यक्षरात्
रूपं ह्रूमिति वर्णतो जलमये स्यादुत्तरस्याः च्छदे ।
प्रैतः स्पर्शसमुद्भवः पुनरधःपत्रे पृथिव्यात्मके
श्रैतस्योर्ध्वदले मरुत्पथमये शब्दप्रकाशो भवेत् ॥७२॥ १७

इति श्रीसमुच्चयविरचिते आनन्दसमुच्चयाभिधाने श्रीयोगशास्त्रे मन्त्रप्रभावप्रकरणं तृतीयं समाप्तम् ॥

---

१. मुतो । २. द् घ्यागाश्रु० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

* आधारचक्रे ई ऐं ॐ क्लीं ॥४॥ १। स्वाधिष्ठाने ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रैं ह्रौं ह्रः ॥६॥२। मणिपूरके ढ्रूं ज्रं ढ्रीं ड्मों ज्रीं छ्रें म्क्षें ङ्क्रौं क्लीं श्रीं ॥१०॥३। अनाहते स प ठ मु रि छ च मा म य ण ट ॥१२॥४। विशुद्धिचक्रे अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः ॥१६॥५॥ ललनाचक्रे आ स प श यु रि दि च म प य ण ॥१२॥६॥ आज्ञाचक्रे श्रीं भ्रूं क्लीं ॥३॥७॥ सोमचक्रे हं स छ द ध्र फा वि री यो गि स दु की र्त्ति च प्री ॥१६॥८॥ मनश्चक्रे श्लं घ्नं सुं(स्नुं) ह्रैं प्रै श्रै ॥६॥९।

४, ६, १०, १२, १६, १२, ३, १२ (?१६), ६ ॥

अमी स्फुटध्यानविधानवन्ध्याः प्रायो न मन्त्राः फलिनो भवन्ति ।
यथोपदेशं क्रमशः फलाढ्यं तदुच्यते ध्यानविधानमेतत् ॥७३॥ १७(१८)

आधारचक्रं चतुरङ्गुलोच्छ्रयै-र्दलैश्चतुर्भिश्चतुरङ्गुलायतैः ।
दूर्वाङ्कुरच्छायधरं वदन्ति तदन्तरस्थं पुरुषं विचिन्तयेत् ॥७४॥१८(१९)

तद्वर्णमेकं कमलासनस्थं काष्टाचतुष्काभिमुखस्थदेहम् ।
निमेषशून्यीकृतलोचनं च स्वयं च संस्थानमिदं दधानः ॥७५॥१९(२०)

मन्त्रमक्षरचतुष्कनिर्मितं स्पष्टमष्टशतसंख्यया जपन् । "ई ऐं क्ली" ॥
वातदोषमथ शाकिनीग्रहं स्थावरं च गरलं हरत्यसौ ॥७६॥२०(२१)॥१

साधिष्ठाने षड्दलाम्भोजरूपे सौवर्ण्णश्रीभाजि पद्मासनस्थम् ।
अर्द्धोन्मीलल्लोचनं स्वर्णवर्णं हृद्विन्यस्ताङ्गुष्ठतर्जन्युपान्तम् ॥७७॥ २१(२२)

न्यस्तेक्षणं तत्र च तत्स्वरूपो योगी जपन्नक्षरषट्कमन्त्रम् । "ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रैं ह्रौं ह्रः" ॥
फणाविहीनस्य विषं महाहे-र्निहन्ति भूतप्रभवं च दोषम् ॥७८॥ २०(२३)॥२

मणिपूरकपङ्कजे दशास्त्रे गुदमेंढ्रान्तरवर्तिपार्ष्णिभागम् ।
गरुडासनसंस्थमुष्णरश्मि-प्रतिमं मीलितपाणिपद्मयुग्मम् ॥७९॥ २१ (२४)

ध्यायन् पुरुषं स्वयं तथास्थो दिक्चक्र क्रमतोदशाक्षरोत्थम् ।
"ढ्रूं ज्रं ढ्रीं ड्मों ज्रीं छ्रैं म्क्षें ङ्क्रौं क्लीं श्रीं" ॥
मन्त्रं वारान् यः शुचिश्चतुर्भिं(?)सहितां षष्टिमुदीरयन् मुनीन्द्रः ॥८०॥ २४ (२५)

१. ०मेनं ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वातव्याधिमुपाधिसम्भवविषं श्लेष्मप्रकोपं तथा
मूलादेव निहन्त्यथो यदि मनाक् सम्मील्य नेत्रद्वयम् ।
विन्यस्यन् करकुड्मले जपति तं मन्त्रं विलोमाक्षरं
कल्पान्तादपि दष्टकस्य कुरुते स्वैरं [१]तदाकारणम् ॥८१॥ २५ (२६)॥३

चक्रेऽनाहतसंज्ञके परिणमज्जम्बूफलश्यामले
न्यस्यन्तं भुवि वामपाणिकमलं जानौ च सव्यं करम् ।
संवीतस्फुटयोगपट्टनिभृतं चक्षुस्तथाऽन्तर्मुखं
तत्त्वं तं सहजं स्मरन्नरमिति ध्याता तथैव स्थितः ॥८२॥ २६ (२७)

मन्त्रमष्टशतकल्पितमानं द्वादशाक्षरममुं समुदीर्य ।
जङ्गमादिविषवे[२]र्धमशेषं दोषजातमपि च प्रतिहन्ति ॥८३॥ २७ (२८)

किञ्च रात्रिन्दिवं योगी तदेकध्यानमानसः ।
अतीन्द्रियमपि ज्ञान-मासादयति सादरः ॥८४॥ २८(२९) ॥ ४

मन्त्रः "स प ठ मु रि छ च मा म य ण ट" ॥

विशुद्धचक्रे घनसारवर्ण-मेकत्र सम्मीलितपाणिपादम् ।
तं सम्पुटस्थानकसंस्थदेहं तदन्तरन्यञ्चितलोचनं च ॥८५॥ २९ (३०)

स्मरन्नरं नित्यमिति स्वयं च तथास्थितो मन्त्रमुदीरयेद् यः ।
विषं न किञ्चित् प्रभवत्यमुष्य सारस्वतं चाद्भुतमभ्युदेति ॥८६॥ ३०(३१) ॥५

मन्त्रः "अइउऋऌएओअं प्रणवउद्गीथ हुं फुट् बषट् स्वधा स्वाहा ॥" बहिः पक्षे "आ ई ऊ ॠ ॡ ऐ औ अः नमः अमृतं " ॥

यश्चक्रे ललनाभिधे विचिनुते बन्धूकबन्धुद्युतिं
साक्षाद् दक्षिणपादपद्मविलसत्सद्योगपट्टस्थितिम् ।
ईषन्मीलितलोचनं नरमसौ दंष्ट्रानखादेर्विषं
शूलादिज्वरदोषपोषमपि च व्यालुम्पति प्राणिनाम् ॥८७॥ ३१ (३२) ॥ ६

"आ स प श यु रि दि च म प य ण" ॥

आज्ञाचक्रे पाटलापाटलाङ्गं वामे पादे प्रोल्लसद्योगपट्टम् ।
भ्रूयुगमान्तर्न्यस्तनेत्रं पुमांसं पश्यन् योगी मन्त्रमुच्चारयंश्च ॥८८॥ ३२ (३३)

---

१. तदाभारणं । २. ०विषवेगविशेषं ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"श्रीं भ्रूं क्लीं" ॥

शाकिनी-भूतसम्भूतदोषग्रह-प्रेतसंघातशङ्काविषोपद्रवान् ।
पूर्वदष्टस्य सम्भावितां भारणां दारुणामप्यसौ दारयत्यादरात् ॥८९॥ ३३(३४) ॥७

सोमस्य चक्रे चरणद्वयोर्द्ध्वं न्यस्यन्नृजूत्तानितपाणियुग्मम् ।
स्मरन् दृशा शून्यमवेक्षमाणः प्रसन्नमूर्त्तिः कमलासनस्थः ॥९०॥ ३४ (३५)

शीतांशुमण्डलमखण्डमनुस्मरन् यो मन्त्रं जपत्यवहितः सुहितान्तरात्मा ।
स व्याधिबन्धमखिलं च विषं निहन्ति सौभाग्यभाग्यमपि चाद्भुतमभ्युपैति
॥९१॥३५(३६) ॥८

"हंस छद" इत्यादि ॥

चक्रे मानसनाम्नि स्फटिकवद् ध्येयप्रभेदस्फुर-
न्नानावर्णविनिर्णये नयनयोः स्वैरप्रचारं दिशन् ।
स्वच्छन्दासनपाणिरुज्ज्वलमतिर्यो मन्त्रमुच्चारयेत्
कार्याण्यार्यमनाः स नाम कुरुते दीप्तानि सौम्यानि च ॥९२॥ ३६ (३७) ॥९

"श्लं घ्नं" इत्यादि ॥

कायद्वारे नियमितमरुच्चारमाकारवन्ध्यं
कुर्वन् वर्णाक्षरविरहितं ध्यानमध्यात्मनिष्ठः ।
प्राप्नोत्युच्चैरणिम-महिमाग्रेसरं सिद्धिजातं
जाताभ्यासः परपदभवं वैभवं चाभ्युपैति ॥९३॥ ३७ (३८) ॥१०

इति श्री **समुच्चय**विरचिते **आनन्दसमुच्चया**भिधाने श्रीयोगशास्त्रे **ध्यानभेद**प्रकरणं चतुर्थं समाप्तम् ॥

अत्र त्रियामारमणः शरीर-माप्यायते षोडशभिः कलाभिः ।
प्रत्येकमुल्लासिगुरूपदेशै-स्तां कर्मभिर्निर्मलतां भजन्ति ॥९४॥ १

तन्वती तनुधातूनां रूचं शङ्खविजित्वरीम् ।
कर्मत्रयकृतज्योति-र्द्योतते **शङ्खिनी** कला ॥९५॥ २

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

[1]देव्यादिमण्डलगतं विरचय्य चेतः संगृह्य शङ्ख इव भूरिसमीरवीरम् ।
स्तोकं विसारयति नासिकया बहिर्यत् तच् शङ्खसारणमिति प्रथयन्ति कर्म ॥९६॥३

ऊर्ध्वीकृतेन चरणद्वितयेन मूर्द्धा-वष्टम्भतः सरलतां गमिते शरीरे ।
आक्रमति स्मरणचक्रभुवं मनो यत् तत् कर्म विश्रुतमिहाऽभिधया **कपाली** ॥९७॥४

[2]विश्रामधामनि निवेश्य मनो रसाना-मङ्गुष्टवक्त्रपरिपीडितलम्बिकाग्रः ।
स्थित्वोत्कटो मुखरसं विनिपातयेद् यत् तत् कर्म **पातन**मिति प्रथयाम्बभूव ॥९८॥ ५॥१

अभ्यासकृतसंवर्म-कर्मत्रयविभूषणा ।
लक्ष्मीर्लक्ष्मीकृतं देह-माधत्ते **लक्ष्मणा** कला ॥९९॥ ६

मनो म[4]हापद्मवने निवेश्य निरुद्धय नाडीपवनं सशब्दम् ।
निःसारयेदिन्द्रियवर्त्मना यत् कर्मेदमाहुः **प्रतिसारणाख्यम्** ॥१००॥ ७

मध्ये तोयस्य वज्रासननिविडवपुर्ब्रह्म[5]रन्ध्रे निरुध्य
स्वस्वान्तं नासिकान्तद्वयमुपरि दधत् कूर्परद्वन्द्वमुच्चैः ।
कृत्वा किञ्चित् प्रकोष्ठौ श्रवणविवरयोः सम्पुटीकृत्य पाणि-
द्वैतं न्यस्येत मूर्ध्नि स्फुटमिदमुदितं कर्म **मत्सी**ति नाम्ना ॥१०१॥ ८

[6]चक्रे क्रोधानलस्य प्रतिनियतमनःसङ्गतिः पादगुल्फा
चान्योन्यं गाढरूढोत्कटकवपुरुपश्लिष्य पाणिद्वयेन ।
उच्चैर्वेगप्रयोगादुपरि परिपतन्नीरधाराभिसारा-
दुद्यन्मण्डूकलीलां कलयति तदिदं कर्म **मण्डूकसंज्ञ**म् ॥१०२॥ ९

कर्मभिस्त्रिभिरुद्दाम-धामश्रियमधिश्रिता ।
वपुषः पोषमाधत्ते विस्पष्टं **पुष्टिनी** कला ॥१०३॥ १०

पिङ्गलामथ च दक्षिणमङ्गं पीडयन्नयति वातमिडायाम् ।
सक्तशक्तिलयधामनि[7] चित्ते **शक्तिकर्म** तदिदं निगदन्ति ॥१०४॥ ११

---

१. घण्टिकायां ललनाचक्रोपरि १ पञ्चमम् ॥ २. भ्रूमध्ये आज्ञाचक्रोपरि पञ्चदशम् । ३. आज्ञाचक्रोपरि षड्रसविश्रामः पञ्चमम् ॥ ४. आज्ञाचक्रोपरि एकादशम् । ५. आज्ञाचक्रोपरि द्वादशम् । ६. आज्ञाचक्रोपरि एकविंशतितमम् । ७. आज्ञाचक्रोपरि अष्टाविंशतिमम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वक्त्र-घ्राण-प्राणमाकृष्य तेन स्थौनं भित्त्वा ब्रह्म-शौरीश्वराणाम् ।
स्थूलाः सूक्ष्मा नाडिकाः पूरयेद् यद् विज्ञातव्यं कर्म तत् **पूरकाख्यम्** ॥१०५॥१२

अन्तर्जलं स्थिततनुर्नयनद्वयेन संयोज्य सम्पुटितमंह्रिसरोजयुग्मम् ।
कुर्वीत [२]पूर्णगिरिपीठगतं मनो यत् तत् कर्म **पूर्णगिरि**संज्ञमुदाहरन्ति ॥१०६॥१३॥१३

कर्मद्वयकृतोल्लास-चिराभ्यासवशंवदा ।
कामं कामोदयच्छेदौ कुरुते **कामिनी** कला ॥१०७॥१४

लिङ्गद्वाराल्लम्बिकां चुम्बमाने चित्ते गुल्फस्योपरि न्यस्य शिश्नम् ।
यत्सङ्कोचं मन्दमन्दं नयेत् तत् **सङ्कोचीति** स्यादिदं कर्म तस्मात् ॥१०८॥१५
आकण्ठं नीरपूरान्तररचिततनुः पद्मबन्धासनस्थ-
श्छायायामह्नि नक्तं शशधरकिरणक्षालितं क्षोणिपीठे ।
स्वान्ते विश्रान्तिमञ्चत्यचँलवनभुवि क्षीरखण्डादि भुङ्क्ते
कर्मैतद् **बिन्दुमालिन्य**भिहतमुदयद् बीजबिन्दुप्रपातम् ॥१०९॥१६
आधिव्याधिपरित्रस्त-प्राणित्राणाय जाग्रती ।
आश्वासं जनयेत् कर्म-त्रयादा**श्वासिनी** कला ॥११०॥१७
पवनं मानसे तच्च सुषुम्णाँधारमण्डले ।
सम्बन्ध्य (ध्य?)बन्धयेत् श्वासं **श्वासबन्धनकर्म** तत् ॥१११॥१८
नवविवरविरोधस्वास्थ्यमास्थाय काये
मनसि रजनिजानेर्बिम्बमालम्बमाने ।
सितमपि किल रेतः श्वेतमाबन्धयेद् यत्
तदुदितमिह कर्म **श्वेतबन्धा**भिधानम् ॥११२॥१९
आकाशान्तः प्रविशति गुरुद्वारतो मानसाख्यं
चक्रं भित्त्वा मनसि दशमद्वारभेदं च कृत्वा ।
मन्दं मन्दं रचयतितरां कुञ्चनं पायुवायो-
राकुञ्चीति स्फुरति तदिदं कर्म शर्मैकहेतुः ॥११३॥२०
चिराभ्यासवशीभूत-कर्मत्रितयवर्मिता ।
चित्तमानन्दसन्दोहे मोहये**न्मोहिनी** कला ॥११४॥२१

१. आज्ञाउपरि ब्रह्मस्थानम् । अनाहतोपरि विष्णुस्थानम् । २. ललनाचक्रोपरि सप्तमम् । ३. बद्धपद्मासनस्थः । ४. सोमचक्रोपरि प्रथमम् । ५. आज्ञाचक्रोपरि नवमम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

[1]चक्रे ध्वनेश्चरति चेतसि योगपट्टावष्टम्भितश्चिबुकचुम्बितजानुमध्या ।
नैर्मल्यतः स्वनयनादि निरञ्जयेद् यत्, कर्म स्मृतं गतमदैरिदमञ्जनीति ॥११५॥२२

लिङ्गद्वारान्तरालादुपनयति मनो मूलकन्दे[2]ऽथ तस्मा-
न्नक्षत्रोद्दामदीप्तिर्गमयति यशया वामनेत्राम्बुजान्तम् ।
चक्षुर्मार्गाच्च सव्याद्विरचयतितरां मूलकन्दे पुनस्तत्
कर्माऽलिन्दीति योगावसथपृथुतरालिन्दतुल्यं तदाहुः ॥११६॥२३

कर्मेदमेव मनसि प्रस्थिते गजजिह्वया ।
कालिन्दी-गङ्गयोः सङ्गात् **कालिन्दीकर्म** कीर्त्यते ॥११७॥२४

चिराभ्यासवशीभूतै-रापूर्णा कर्मभिस्त्रिभिः ।
पुंसां दिशति सन्तोष-पोषं **सन्तोषिणी** कला ॥११८॥२५

आकुञ्चन् पायु-शिश्ने मनसि च नितरामुन्मनी[3]चक्रलीने
कापालद्वाररन्ध्रस्थगनपरिचयप्रह्वजिह्वाकवाटः ।
अन्तर्देहं समीरे विलयमुपगते शश्वदभ्यासयोगात्
काष्ठीकर्मेदमुच्चै रचयति वपुषः काष्ठकाष्ठाविधायि ॥११९॥२६

[4]बिन्दुस्थाननिकेतनातिथिमना ग्रीवान्तकान्तस्थिति-
र्व्यातन्वन् चिबुकं स्वकण्ठमभितो नाड्याविडा-पिङ्गले ।
अङ्गुष्ठद्वयपीडनान्निविडयन् मूर्च्छान्धकारान्तरे
यत् पीयूषरसं पिबेत् **तदमरीकर्मे**दमावेदितम् ॥१२०॥२७

रून्धन् रन्ध्रव्रजमनुसरन्मानसेनाम्बुमुद्रां
कृत्वा वज्रासननिबिडतां चन्द्रबिम्बात् पराचीम् ।
निश्च्योतन्ती यदमृतकलां चारयेत् स्वे समन्ता-
दन्तोच्छित्त्यै तदिदमवदन् **खेचरीकर्म** सन्तः ॥१२१॥२८॥७

आकल्पान्तमियं कर्म-त्रयसंवृत्तवर्त्तना ।
शरीरिणां शरीराणि वर्त्तयेद् **वर्त्तनी** कला ॥१२२॥२९

पुरुषधामवशंवदमानसो घटपटाद्यपि हि स्वतया स्मरन् ।
स्वकुल एव भवत्ययमीश्वर-स्तदिह कर्म **कुलीश्वर**मूचिरे ॥१२३॥३०

१. आधारोपरि । २. आधारादधः । ३. सोमचक्रोपरि । ४. आज्ञाउपरि ७ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शुक्रस्थानस्थचेतास्तुहिनकरकलाकान्तया तिग्मलासः
पुंसः सम्बन्धबन्धं विरचयति ततस्तद्विमर्दोत्थबीजेम्[1] ।
नासारन्ध्रादिमार्गाज्जनयति मनसा भ्रष्टमग्रेसरेण
भ्रष्टीकर्मेदमुक्तं रतसमरसुखास्वादसंवादहेतुः ॥१२४॥३१

यन्त्रं पिण्डप्रमाणं विरचयति ततो मध्यदण्डे विलङ्घ्य
स्वं देहं नाभिदेशात् क्षितिनिमितमुखः कुञ्चयन् पाणिपादम् ।
जिह्वाग्रं लम्बिकायां विदधदधिवसंश्चेतसा बुद्धितत्त्वं[2]
गर्भावस्थाभिधानं जनयति तदिदं **कर्म** शून्यान्तरात्मा ॥१२५॥३२॥८

तन्वती देहिनां देहं कुमुदामोदमेदुरम् ।
धत्ते कर्मद्वयाभ्यासान्मुदं **कुमुदिनी** कला ॥१२६॥३३

लिङ्गद्वारान्मानसे स्वे सुषुम्णामार्गेणोच्चैश्चुम्बति श्वेतभानुः ।
ऊर्ध्वं याति स्त्रीप्रसङ्गेऽपि रेतः **स्यादुद्घातीकर्म** शर्मप्रदं तत् ॥१२७॥३४

आकुञ्चन् गुदमुच्चकैर्विरचयन् जङ्घाद्वयं कन्धरा-
बन्धस्योपरिचारि किं च विदधन्मूर्द्धानमूर्ध्वस्थितम् ।
यज्जालन्धरपीठलोठितमनाः[3] सोल्लासमासूत्रयेत्
तज्जालन्धरकर्म कर्मकुशलाः सम्यक् समाचक्षते ॥१२८॥३५॥९

विकाशश्रियमश्रान्तं लम्भिताः कर्मभिस्त्रिभिः ।
धत्ते देहप्रभोल्लास-हासं **प्रहासिनी** कला ॥१२९॥३६

तन्वन् नवद्वारनिरोधपूर्वं विश्रामचक्रे[4] पवनस्य चेतः ।
अन्दोलयेदिन्दुपतङ्गबिम्बे विदुस्त**दन्दोलनकर्म** कार्माः ॥१३०॥ ३७

चेतः कृत्वा विस्मृतेश्चक्रचारि[5] स्वैरं नाडीस्ताडयन् मुष्कभाजः ।
उद्घलिङ्गं स्वास्थ्यमास्थापयेद् यत् **षष्ठीकर्म** रव्यापितं तन्मुनीन्द्रैः ॥१३१॥३८

गतवति चेतसि पश्चिमलिङ्गं विवृतमुखः करपीडितनाभिः ।
जनयति नाभिसरोजविकाशं **कमलविकाशनकर्म** तदाहुः ॥१३२॥३९ ॥१०

---

१. ०**विमर्दोत्थवीर्यम्** । २. ललनाचक्रोपरि २ । ३. आज्ञाउपरि ४ । ४. सोमचक्रोपरि ६ ।
५. आज्ञा उपरि २० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर्मद्वयकृतोपास्तिरमृतास्वा[1]दसोदरा ।
आह्लादसम्पदं धत्ते सेयम**आह्लादिनी** कला ॥१३३॥४०

निर्वातदेशमधिगम्य विधाय लिङ्ग-मूर्ध्वं ततोऽस्य विवरान्तरमीक्षमाणः ।
पीठे मनो नयति यत् किल कामरू[2]पे तत् **कामरूप**मिति कर्म वितीर्णरूपम्
॥१३४॥४१

उत्तानीकृत्य वामं करतलमुपरि न्यस्य [3]पार्ष्णिः शरीरं
तस्मिन्नारोप्य तस्मादपरमपि शिरः शेखरत्वेन कृत्वा ।
सार्द्धं देहेन चेतो भ्रमयति मणिपूराख्य[4]चक्रस्य पार्श्वे
प्रोद्यच्छक्त्या समन्तान्नयति च विलयं कर्म **तच्छक्तिबन्धम्** ॥ १३५॥४२॥११

दिशती सोमतां कर्म-द्वयनाटितपाटवा ।
दत्ते कारुण्यतारुण्यं कलेयं **करुणावती** ॥१३६॥४३

ब्रह्म[5]स्थानाधिष्ठितस्वान्तवृत्ति-र्लिङ्गस्यान्तर्धातुजं वक्रनालम् ।
निक्षिप्योर्ध्वं तोयमाकर्षयेद् यत् तत् कर्म स्याद् **वक्रनाला**भिधानम् ॥१३७॥४४

स्वान्तं [6]सारस्वतान्तर्विदधदँ[7]पघनेनोत्कटीभूय जानु-
द्वन्द्वोर्ध्वं कूर्परान्तर्द्वयमुपरचयन् सम्पुटीभूतपाणिः ।
वक्त्रं सम्मील्य जिह्वां नियमयतितरां राजदन्तान्तराले
कर्मैतत् **सम्पुटी** स्याद् विधु-रवियुगलीसम्पुटे साम्यहेतुः ॥१३८॥४५॥१२

कर्मद्वयसमुल्लासि-रसपीयूषसारणिः ।
आप्यायते नृणामङ्ग-मियम**आप्यायिनी** कला ॥१३९॥ ४६

पद्मासनीभूय मनः सुषुम्णा-मार्गे वितन्वत्(द्) रसनाग्रशून्या ।
यल्लम्बिका चुम्बति मन्दमन्दं **तल्लम्बिकाकर्म** वदन्ति सन्तः ॥१४०॥ ४७

आक्रान्तकेवलिलयस्थितिधाम्नि चित्ते नासान्तवक्त्रविवरैः परमाणुरूपम् ।
आकृष्य यद् गगनमापिबति प्रकामं प्रोक्तं बुधैस्तदिद**मम्बरपानकर्म** ॥१४१॥४८॥१३

कर्मत्रयभवद्भूति-परमानन्दसम्पदः ।
अलंकर्मीणतामेति विकाशाय **विकाशिनी** ॥१४२॥ ४९

---

१. ०**श्वाससोदरा** । २. आज्ञाउपरि ४ । ३. **पार्श्वे** । ४. नाभौ । ५. आज्ञाउपरि ।
६. ललनाचक्रसमीपे । ७. **विदधदुपघनेऽप्र०** ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वं (स्व)च्छन्दसुन्दरवपुर्मनसा सितांशु-बिम्बं स्पृशन् पिबति नासिकया समीरम्।
[१]सूर्यं स्पृशन्नथ विरेचयते तदेत-च्चेतो विघूर्णयति **घोलनसंज्ञकर्म** ॥१४३॥५०

आकाशाद् [२]ब्रह्मरन्ध्रं प्रविशति भजते वाममार्गेण पादौ ।
सव्यान्मार्गात् सुषुम्णापथमथ वितथीभावबन्धं समेत्य ।
ब्रह्मग्रन्थिप्रबन्धे विलयमविकलं याति चेतस्तदेतत्
कर्म प्रावीण्यपुण्यैर्मुनिभिरभिहितं **ब्रह्मभेदा**भिधानम् ॥१४४॥५१

सावष्टम्भाङ्गयष्टिं स्फुटनिमितमना नादचक्रे निरुध्य
घ्राणं मध्याङ्गुलीभ्यां श्रुतिविवरपथस्थापिताङ्गुष्ठयुग्मः ।
निःशेषद्वाररोधे ध्रुवमुपरि शिरोऽभ्यन्तरेऽनाहतं यत्(द्)
घण्टारावं विधत्ते तदिदमभिह(हि)तं कर्म **घण्टारवाख्यम्** ॥१४५॥ ५२ ॥१४

वपुर्वचनचेतस्सु कर्मत्रितयदीपिता ।
तुल्यमुल्लासयत्येव सोमतां **सोमिनी** कला ॥१४६॥५३

कुर्वन् कदम्बगोलान्तः स्वान्तमन्तर्मुखेन्द्रियः ।
बन्धयेत्तियडास्तिस्त्र-**स्तिडया(यडा)बन्धकर्म** तत् ॥१४७॥ ५४

स्थास्नूकृत्य मनस्तृतीयतियडाचक्रान्तसञ्चारितं
पर्यङ्कासनबन्धबन्धुरवपुर्द्वाराणि रुद्ध्वाऽभितः ।
उत्तानो दृढरज्जुबन्धनविधिं नाभिप्रदेशे दिशेद्
धूनोत्युद्धततापसम्पदमिदं **कर्माऽवधून्याह्वयम्** ॥१४८॥ ५५

चेतः कृत्वा यदमृतकलाचक्रविक्रान्तमन्तः
स्वेच्छासीनः सरलितपदः किञ्चिदामीलितास्यः ।
स्पृष्ट्वा दन्तान्निजरसनया सूत्कृतैरत्ति वातं
कर्म प्रोक्तं भुजगजनितं तद् **भुजङ्गीति** नाम्ना ॥१४९॥ ५६

कर्मद्वयोज्ज्वलज्ज्योति-र्जराविजयकारणम् ।
अमृतत्वं शरीरेषु दद्यादमृतनी कला ॥१५०॥ ५७

---

१. आधारे । २. आज्ञाउपरि । ३. स्वाधिष्ठोपरि । ४. आज्ञाउपरि । ५. आज्ञाउपरि । ६. आज्ञाउपरि ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

[१]यत्रोत्तरध्रुवमना निजनासिकान्त-र्दत्तेक्षणः क्षितितलास्थितहस्तयुग्मः ।
प्राणेन वायस इवोल्लिखति क्षमायां तद् **वायसी**ति विगदं निगदन्ति कर्म ॥१५१॥५८

आनीते भ्रमरस्य चक्रमभितः स्वान्ते गुडादीनदन्
निर्वाते करभासनः प्रगुणयन्नूर्वोर्ललाटस्थितिम् ।
ध्यानेन भ्रमरीविभास्वरवपुर्जायेत शीतद्युतिः
कर्मैतद् **भ्रमरी**तिसंज्ञमतुलप्रज्ञैः परिज्ञापितम् ॥१५२॥५९ ॥१६

दीपितः कर्मणैमेवं द्विचत्वारिंशताऽनया ।
सद्यो वपुषि पीयूषं निषिञ्चति सितद्युतिः ॥१५३॥ ६०

* (टि. षोडशसु कलासु कर्मसंख्या - ३, ३, ३, २, ३, ३, ३, ३, २, ३, २, २, २, ३, ३, २ = ४२)

इति **श्रीसमुच्चय**विरचिते **आनन्दसमुच्चया**भिधाने श्रीयोगशास्त्रे **चन्द्र(कर्म)** प्रकरणं पञ्चमं समाप्तम् ।

इहांशुमान् [२]स्वान्तनभोगणान्त-र्विद्योतते द्वादशभिः कलाभिः ।
एकैकशश्चात्र कलाविलास-मुल्लासयेत् कर्मपरम्परेयम् ॥१॥ १५४

पवनाख्यां कलामत्र यथार्थप्रथिताभिधाम् ।
अमूनि त्रीणि कर्माणि दीपयन्ति समन्ततः ॥२॥ १५५

मनसि चरति गुप्[३]वातचक्रे [४]पवननिरोधविधानबद्धबुद्धिः ।
जरयति [५]पवनं रसं च यस्मा-दिदमिति **जारणकर्म** कीर्तयन्ति ॥३॥ १५६

यद् भूत्वोत्कटकवपुः स्थिरो विधाय स्वस्वान्तं ननु विचरिष्णु विष्णु[६]भाण्डे[७] ।
आकुञ्चत्यथ च विमुञ्चते च पायुं **गन्धारी** गुरुमलगन्धरोधनात्तत् ॥४॥ १५७

घनरसाऽन्नरसप्रसरास्पदे गतमनाः पवनः किल पिङ्गलाम् ।
नयति बाढमिडां परिपीडयन् शिवनिदानतया **शिवकर्म** तत् ॥५॥ १५८ ॥१

---

१. सोमचक्रोपरि । २. देह । ३. घात । ४. आधाराधः । ५. पतनं (?) । ६. **विष्ट** । ७. आधारे । ८. स्वाधिष्ठानोपरि ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अथ देहमहीरोहद्-गुरुतररसगहनदहनरुचितरुचिः ।
उद्दीप्यते समन्तात् कर्मत्रितयेन **दहनकला** ॥६॥ १५९

चेतः कृत्वा शक्ति[१]चक्रे निलीनं पादाङ्गुष्ठौ पृष्टगाभ्यां कराभ्याम् ।
गृह्णात्यन्योन्यस्य वज्रासनस्थ-स्तद्विज्ञेयं कर्म **वज्रासनाख्यम्** ॥७॥ १६०

स्वान्तं नीत्वा स्थिरतरवपु[२]र्मण्डले चण्डभानो-
र्मन्थित्वा तं दृढतरमरुद्दण्डमन्थानकेन ।
तस्माज्जातं शिखिकणगणं निक्षिपेन्मूलक[३]न्दे
ख्यातं नाडीगतरससततेर्मारणान्**मारणं** तत् ॥८॥ १६१॥

[४]सानन्दं देहकन्दो[५]न्तरनिमितमना वज्र[६]बन्धासनस्थो
धृत्वाऽन्योन्यं कफोणौ निजभुजयुगलं मौलदेशे निवेश्य ।
पार्श्वस्थं चाग्रतश्च क्षितितलमलकान्तेन चुम्बन् क्रमेण
प्राणादीन् धीरबुद्धिर्दमयति **दमनीकर्म** तद्वर्णयन्ति ॥९॥ १६२

अथा**ऽरुणकला**यास्तु कान्त्युत्साहकृतः कृती ।
प्रपञ्चं पञ्चभिः कुर्यात् कर्मभिर्ज्ञातमर्मभिः ॥१०॥ १६३

[७]देवीगुहागर्भमनाः शरीर-मधोमुखं दीर्घतरं विधाय ।
कुर्यात् करद्वन्द्वनिवेशितं तद् **ढिंकीति** ढिंकाकृतिकारि कर्म ॥११॥ १६४

जन्मस्थाननिवेशितं विरचयन् षण्णां रसा[८]नां मनः
कुर्वन्नुत्कटिकासनं गुदगतां मध्याङ्गुलीं लालयन् ।
नैर्मल्यं विदधाति कोष्टकुहरक्रोडस्य हृत्वा मलं
योगीन्द्रास्तदुदाहरन्ति **कुहरीकर्मो**रुधर्मोद्धुरम् ॥१२॥ १६५

मनसि वसति चक्रे सूर्यरज्यतकला[९]याः
कलितविवररोधः सज्जवज्रासनाङ्गः ।
ज्वलदनिलविलोलां शक्तिमुच्छालयेद् यत्
तदिति भवति **शक्त्युच्छालनं** नाम कर्म ॥१३॥ १६६

---

१. आधाराधः । २. आधाराधः । ३. आधारे । ४. **आनन्दं** । ५. आधाराध(:) । ६. **पद्मबन्धा०** । ७. आधाराधः । ८. स्वाधिष्ठानोपरि । ९. आधाराधः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नादोदयस्थान[1]कदत्तचित्तो वज्रासनान्तः कृतपाणियुग्मः ।
मयूरवद् व्योमनि नृत्यतीव **मयूरकर्म** प्रथितं ततस्तत् ॥१६७॥

मध्येमध्यमवाक्[2]पदं कृतपदं चेतः समासूत्रयन्
रुन्धानश्च नवापि देहविवराण्युद्यन्मरुन्मारणात् ।
निर्लक्ष्येक्षणमेकमंह्रिकमलं जानौ समारोपयन्
मूर्ध्न्यन्यच्च भवेच्च भैरव इव स्याद् **भैरवं** कर्म तत् ॥१५॥ १६८ ।३

अथ धातुरससमीरेन्धननिधनविधानबद्धसंरम्भा ।
कर्मत्रितयाभ्यासात्(द्) **ज्वलनकला** ज्वलति देहान्तः ॥१६॥ १६९

कृत्वा पार्ष्णिं पायुशिश्नान्तराले बद्ध्वा यत्नादुड्डियाणाख्यबन्धनम् ।
भानोश्च[3]ण्डे मण्डले लीनचित्त-**स्तच्चण्डालीकर्म** निर्मीयते स्म ॥१७॥ १७०

दृढं कृत्वा वज्रासनमनुगुदान्तेन कलिते
कलोत्पत्ति[4]स्थानं मनसि विधुवन् गाढमभितः ।
ज्वलज्ज्वालामालाकुलमखिलमङ्गं वितनुते
कृती **ज्वालामालिन्युदितमिति** कर्म स्फुटमिदम् ॥१८॥ १७१

यत्रासूत्रितमूत्र[5]भाण्डकुहरक्रोडाधिवासं मनः
कृत्वा किं च समुन्मिषन्निजवपुर्वज्रासनोज्जागरम् ।
गाढं पाणितलेन कोमलतरग्राव्णाऽथवा घर्षये-
द्वज्रीकर्म तदत्र वज्रसमतामङ्गस्य धत्ते क्रमात् ॥१९॥ १७२

अथ संजायते प्रौढं रसशोषैककारणम् ।
शिखिप्रभाप्रभोल्लासो मांसलः कर्मभिस्त्रिभिः ॥२०॥ १७३

वज्रासनस्थितवपुः स्थिरधीः स्वचित्त-मारोप्य रेचकसमीरण[6]जन्मचक्रे ।
स्वान्तेन रेचयति नाडिगतं समीरं तत् कर्म **रेचक**मिति प्रतिपत्तिमेति ॥२१॥१७४

ध्यानस्थान[7]निधानतागतमना विस्तार्य तिर्यक्कृता-
[8]वन्योन्यं चरणौ विधाय वि[9]वृतं पाणिद्वयेनाऽऽननम् ।

---

१. आधारः । २. मणिपूरकोपरि । ३. आधाराधः । ४. स्वाधिष्ठानोपरि । ५. आधारोपरि ।
६. आधारोपरि । ७. अनाहतोपरि । ८. ०**वत्यन्तं** । ९. विधृतं ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रुद्रग्रन्थिमथ श्लथत्वविधिना यच्छोटयत्यादरात्(द्)
ग्रन्थिच्छोटनकर्म निर्मलधियस्तद् बोधयांचक्रिरे ॥२२॥ १७५

उत्तानो भूमिशायी कृतविततकर: शीर्षपार्श्वद्वयेन
स्तम्भीभूतांह्रिपाणिर्गगनगवपुषा मण्डपत्वं दधान: ।
कुर्यात् कम्पं स्रसानामुपहितहृदयो दक्षिणस्य[१] ध्रुवस्य
स्यादुत्क्षेपाय **नाभीजलरुहिकमलोल्लञ्छनं** नाम कर्म ॥२३॥ १७६ ।५

अथ कर्मत्रयनिर्माण–निर्मलीभूतजाज्वलज्ज्योति: ।
शीतार्त्तिस्फूर्तिहरा देहान्तस्तपति **तपनकला** ॥२४॥ १७७

उत्तान: कृतगुणतित्त्वे[२]बुद्धिचेता बिभ्राण: सरलितपादयो: कराभ्याम् ।
अङ्गुष्ठौ धनुरिव ताडयेत्तनुं यत् **कोदण्डं** तदिदमुदाहरन्ति कर्म ॥२५॥ १७८
ॐकारचै[३]क्रमनुचेतसि याति रुद्ध्वा रन्ध्राणि पाणियुगलं भुवि संनिवेश्य ।
चक्रभ्रमं भ्रमति विभ्रमबन्ध्यबुद्धि–**स्तच्चक्रकर्म** कृतकर्मभिरभ्यधायि ॥२६॥ १७९

आधायोत्कटिकासनं नियमयन् हृत्कं[४]ण्टकान्तर्मनो
लोहेभ्योऽमृतवल्लितोऽथ जनितां कृत्वा शलाकां शुभाम् ।
विन्यस्यन् वदनाम्बुजे क्रमवशाल्लिङ्गेन नि:सारये-
दित्थं **शोधनकर्म** कोष्टकुहरं यत्नेन संशोधयेत् ॥२७॥ १८० ।६

अथान्तर्जठरं जाग्रद्वह्निज्वालावलीमयी ।
पञ्चभि: कर्मभि: सेयं दीप्यते **दीपनी** कला ॥२८॥ १८१

आनं[५]न्दमन्दिरनिरन्तरचित्तवृत्ति–र्यद्दक्षिणोत्तरविवर्त्तितकुक्षिरन्त: ।
उन्मीलयेन्नकुलवत् कमलासनेन निर्मान्ति कर्म **नकुलीति** तदात्मवन्त: ॥२९॥१८२

उच्चैर्वज्रासनमनुभवन्नङ्गुलानां चतुष्के
नामेश्चा[६]न्त: सरलितवलीबन्धमाधाय धीर: ।
चेतोवृत्तिं नयति नितरामुड्डियाणाख्यपीठं
प्राणानेतद् द्रढयतितरा**मुड्डियाणाख्यकर्म** ॥३०॥ १८३

---

१. आधार:, प्रथमम् । २. मणिपूरकोपरि । ३. अनाहत । ४. अनाहताध: । ५. अनाहतोपरि ।
६. **नाभेश्चाध:** ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकटपवनचक्राक्रान्तचेताः शरीरं, सरलमचलमुच्चैःकृत्य नासापुटाभ्याम् ।
रचयति मरुतोऽन्योन्यस्य रोधं ग्रहं च स्फुटमिति **धमनीति** प्रोच्यते कर्म कार्मैः ॥३१॥ १८४

क्ष्मामण्डले वपुरधोमुखमारचय्य सङ्कोच्य कूर्म इव गात्रमशेषतोऽपि ।
यत् कूर्मचक्रमनुविक्रमयेन्मनः स्वं तत् **कूर्मकर्म** निपुणाः परिकीर्तयन्ति ॥३२॥१८५

औस्थ्युत्पत्तिस्थानकस्थायिचेता वेतालश्रीसोदरेणोदरेण ।
भूत्वा यत्नादुत्कटः कर्म कुर्या-**दुच्छाली** स्यात् तद् रसोच्छालनेन ॥३३॥१८६।७

अथ कर्मत्रयाभ्यास-मार्जनोपार्जनद्युतिः ।
तन्वती देहविस्फूर्त्ति द्योतते **द्योतनी** कला ॥३४॥ १८७

स्पृशति मनसि हंसस्थानकं कुञ्चयित्वा
चरणयुगलमूर्ध्वीकृत्य भून्यस्तमौलिः ।
करतलयुगलेनोत्तम्भितः कुण्डलेन
भ्रमति तदिदमाहुः **कुण्डलीकर्म** सन्तः ॥३५॥१८८

भूताभ्यन्तरवारिचीरकटकं कृत्वा पदाङ्गुष्टका-
वूर्ध्वाकुञ्चिकरद्वयेन पृथिवीमुद्रांमनाः कर्षयन् ।
प्रद्योताग्नितपद्विधुभ्रमरसं येनोर्ध्वशक्तौ नयेत्
पातं **शक्तिनिपातनाभिधमतः** कर्मेदमाचक्षते ॥३६॥ १८९

चैतन्यचक्रान्तरसंचरिष्णु स्वान्तं वितन्वन् गरुडासनस्थः ।
आलोडयेत् पक्षनिभौ करौ यत् प्रचक्षते तद् **गरुडीति कर्म** ॥३७॥ १९० ।८

अथ कर्मचतुष्केन रससाम्यं वितन्वती ।
विधत्ते देहिनां देहं सुप्रभं **सुप्रभा** कला ॥३८॥ १९१

चेतसि पश्यन्तीपदगामि-न्यूर्ध्वशरीरः पृष्ठगतेन ।
पाणियुगेनाऽऽक्रामति पार्ष्णी **पश्चिमगात्री** कर्म तदाहुः ॥३९॥ १९२

ब्रह्मग्रन्थिग्रन्थिलस्वान्तवृत्तेः क्षामं कामं मध्यदेशं विधाय ।
यद्दीर्घाह्रिश्चालयेल्लिङ्गदण्डी-**मेतद्दण्डीचालनं** कर्म तत् स्यात् ॥४०॥ १९३

१. स्वाधिष्ठानोपरि । २. आधाराधः । ३. स्वाधिष्ठानोपरि । ४. मणिपूरकोपरि । ५. मणिपूरकोपरि ।
६. **०ग्निर्विधुह्रुतामृतरसं प्र०** । ७. आधारोपरि । ८. आधाराधः । ९. स्वाधिष्ठानोपरि ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

[1]रोमोत्पत्तिविधानधामनि मनः कृत्वा रसज्ञामधो-
व्यावृत्तोत्कटिकः सुधारसकलामुन्मीलयन्तीं मुहुः ।
ध्यात्वा रोमसु सर्वतो रमयति द्वाराणि रुद्ध्वा दृढं
रोमश्यामलताविधायि **रमणीकर्मे**दमावेदितम् ॥४१॥१८४

[2]चेतसि श्रयति कुम्भकचक्रं नाडिकासु निबिडीकृतवातः ।
कुम्भवत् तरति यज्जलमध्ये तद् वदन्ति किल **कुम्भककर्म** ॥४२॥ १९५।९

अथ कर्मचतुष्केन जनितोद्दामदीधितिः ।
मलधातुरसादीनि **शोषयेच्छोषणी** कला ॥४३॥ १९६

[3]मूलकन्दहृदयो गुदरन्ध्रं पार्ष्णिना दृढतरं परिपीड्य ।
मूलमूर्ध्वमिह तानयतीत्थं **मूलतान**मिह कर्म तदुक्तम् ॥ ४४ ॥ १९७

चक्रं हृदि श्रयति कुण्डलिनी[4]मुखस्थ - मुत्तम्भितं निजशरीरमधो वितन्वन् ।
नासाग्रभागमनुवर्द्धयते रसज्ञां तज्ज्ञापयन्ति **रसनापरिवृद्धिकर्म** ॥ ४५ ॥ १९८

चेतः कुर्वन्नादिरक्तस्य चक्रे ध्यायन् देहं शोणमुद्रासनस्थः ।
लिम्पेद् गात्रं मूत्रविष्टादिना यत् **तन्मातङ्गीकर्म** विस्पष्टमिष्टम् ॥ ४६ ॥ १९९

सिद्ध[5]ज्ञानगुहागृहग्रहमनाः सव्येतरे कूपरे
वामस्योपरिगे दधत् करतलं वामं पुनर्दक्षिणे ।
दत्त्वा मूर्धनि चालयंस्तमभितः सञ्जातवज्रासनो
मेरुं कम्पयतीति कर्म गदितं **तन्मेरुकम्पा**भिधम् ॥ ४७ ॥ २००

अथानया नयाभ्यस्तैर्दीप्तया कर्मभिस्त्रिभिः ।
सुवर्णप्रभतामेति **सुवर्णप्रभया** वपुः ॥ ४८ ॥ २०१

यच्चेतसि क्रीडति कुण्ड[6]लिन्यां कुब्जं शरीरं विरचय्य किञ्चित् ।
रसज्ञया संस्पृशति स्वलिङ्गं तत् **कुब्जिका**ख्यातिमुपैति कर्म ॥ ४९ ॥ २०२

आलिङ्ग्य लिङ्गमभितो मनसा स्वयंभु-[8]वक्त्रं निमील्य चिबुकं हृदि संनिवेश्य ।
सुप्तं श्ववद् वितनुते यदघोरनाद - मुद्दामबुद्धिगदितं **तदघोरकर्म** ॥ ५० ॥ २०३

१. उड्डियाणोपरि । २. मणिपूरकोपरि । ३. आधार । ४. आधाराधो द्वितीयम् । ५. आधारे ।
६. मणिपूरकोपरि । ७. आधाराधः । ८. आधाराधः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आवेशो[1]स्पदसम्पदं श्रितवति स्वान्ते वितत्योत्कटं
देहं भूनिहितेऽभितः करतले नाभिं समालोडयन् ।
अन्योन्यं निजनासिकाविवरयोः शुक्रं पिबेदुद्वमेत्
कर्मैतत् **करसुन्दरीति** करयोः सौन्दर्ययोगादभूत् । । ५१ ॥ २०४
कर्मत्रयघनाभ्यास – मांसलीभूतदीधितिः ।
कान्तं देहमसन्देहं धत्ते **विद्युत्प्रभा** कला ॥ ५२ ॥ २०५
यद्विष्णु[2]वेश्महृदयः कमलासनस्थो–ऽवष्टम्भभाक् (ग्) विकटखाट्कृतिना मुखेन।
ज्योतिः प्रकाशयति कुञ्चिततूलचक्र – स्तज्ज्योतिषा**मुदयकर्म** समादिशन्ति ॥५३॥२०६
दधति मनसि चक्रे [3]पाकवह्नेर्निवासं गुदगतनलिकान्तेनोर्ध्वमाकृष्य तोयम् ।
विसृजति च सयत्नं कोष्टशुद्धिं विधाय स्फुटमिद**मुदरीति** ख्यातिमायाति कर्म ॥५४॥२०७
चेतोमतिं प्रतिनियम्य वराङ्ग[4]चक्रे लिङ्गेन जाठरसमीरमधो विमुञ्चन् ।
तत् तानयेन्मृदुलपार्ष्णिकरद्वयेन **लिङ्गप्रसारण**मिदं निगदन्ति कर्म ॥ ५५ ॥ २०८
विशेषो यत्र न प्रोक्त – स्तत्र पद्मासनं मतम् ।
यथास्थानं नियोज्यं च लिङ्गद्वारेण मानसम् ॥ ५६ ॥ २०९
*द्वाचत्वारिंशताऽमूभिः कर्मभिः कृतशर्मभिः ।
मार्त्तण्डमण्डलज्योति – र्द्योतते जठरान्तरे ॥ ५७ ॥ २१०

इति *श्री **समुच्चयविरचिते आनन्दसमुच्चयाभिधाने** श्रीयोगशास्त्रे
सूर्यकर्म[5]प्रकरणं षष्ठं समाप्तम् ॥

* (द्वादशसु कलासु **कर्मसंख्या** – ३,३,५,३,३,३,५,३,४,४,३,३ = ४२)

क्षोणी–जला–ऽनल–मरुद् –गगनाभिधानि
भूतानि पञ्च रचयन्ति शरीरमेतत् ।
तुल्यानि तान्युपचयं परिपञ्चयन्ति
न्यूनाधिकान्यपचयं पुनरानयन्ति ॥ १ ॥ २११

१. अनाहतोपरि। २. अनाहतोपरि। ३. स्वाधिष्ठानोपरि। ४. आधाराधः। ५. **सूर्योलिकर्म. प्रत्यं०** ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऋतूनामानुगुण्येन प्रायशः सर्वधातुषु ।
क्षय-वृद्धी ततः कार्या ऋतुभावविभावना ॥ २ ॥ २१२

चैत्रे प्रधानं जलमामनन्ति समीरणं गौणमुदाहरन्ति ।
वैशाखमासे जलमेव मुख्यं [1]ज्येष्ठेऽम्बु मुख्यं दहनं तु गौणम् ॥ ३ ॥ २१३

आषाढमासे सलिलं प्रधानं तेजस्तु गौणं परिकीर्तयन्ति ।
तेजः पुनः श्रावणिके [2]प्रधानं, जलं तु गौणं गणयन्ति सन्तः । ४ ॥ २१४

तेजो भवेद् भाद्रपदे प्रधानं तथाऽऽश्विने वायु-जले तु गौणे ।
तत् कार्तिकेऽपि प्रथमं वदन्ति वायुं पुनर्गौणतया गृणन्ति ॥ ५ ॥ २१५

स्यान्मार्गशीर्षे पवनं प्रधानं तेजस्ततोऽनन्तरमप्रधानम् ।
पौषे पुनर्मासि वदन्ति सन्तः समीरवीरस्य धुरन्धु(न्ध)रत्वम् ॥ ६ ॥ २१६

माघे मासे मातरिश्वा प्रधानं गौणे तेजः-पाथसी तु प्रथेते ।
वल्गत्युच्चैः फाल्गुने वायुराढ्य - स्तस्मात् तोयं गौणभावं बिभर्ति ॥ ७ ॥२१७

यथैव ब्रह्माण्डं बहिरखिलमुल्लेखमयते
तथैवाऽन्तःपिण्डं सकलमिदमस्त्येव नियतम् ।
तदेवं धातूनां चयमपचयं चापि सुचिरं
विचिन्त्यौचित्येन प्रगुणयति कर्माणि मतिमान् ॥ ८ ॥ २१८

इह हि[3] तुहिनभानुः पूर्विकाभिः कलाभि -
र्जनयति धरणिश्रीपुष्टिमष्टाभिराभिः ।
तदनु च चरमाभिस्ताभिरन्तःशरीरं
भवति सलिललक्ष्मीवृद्धिसम्बन्धबन्धुः ॥ ९ ॥ २१९

षड्भिः कलाभिः प्रथमोदिताभि - र्भानोर्बृहद्धानुरुपैति वृद्धिम् ।
अन्याभिरभ्यासवशंवदाभिः स्वैरं समीरोऽभ्युदयं बिभर्ति ॥ १० ॥ २२०

ततः कर्माभ्यासाद् भवति खलु भूतेषु समता
चिरस्थायी कायः सकलगदकन्दव्यपगमः ।
शकृन्मूत्राल्पत्वं वलिपलितनिर्मूलनविधिः
प्रसत्तिः सौरभ्यं द्रुतकनककल्पा द्युतिरपि ॥ ११ ॥ २२१

१. ज्येष्ठेऽपि तद् वह्न्यनिलौ तु गौणौ - पाठः । २. प्रवेकं = पाठः । ३. इह तु ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भूतदोषकलुषस्य जायते मानसस्य[१] विकृतिः शुचेरपि ।
सन्निपातपतितस्य दृश्यते धीमतोऽपि विकलं हि चेष्टितम् ॥ १३ ॥ २२३

मानसे च विमलत्वमीयुषि क्षान्तिशान्तिकरुणाभिरावृतः ।
सद्विवेकसुहृदा परिस्कृ(ष्कृ)तः सम्मदः सरभसं विजृम्भते ॥ १४ ॥ २२८

प्रसन्नस्याऽस्तसङ्गस्य वीतरागस्य योगिनः ।
वृद्धिहेतुकलाभ्यासाद् भूतसिद्धिः समेधते ॥ १५ ॥ २२५

योऽजित्वा पवनं मोहाद् योगं युञ्जीत योगवित् ।
अपक्वघटमारुह्य सागरं स तितीर्षति ॥ १६ ॥ २२६

अङ्गप्रत्यङ्गदेहांल्लघयति सुतरां स्वेच्छया वर्द्धयेच्च
स्पृष्ट्वा लोष्टादि सर्वं व्यपनयति गदानौषधीकृत्य सद्यः ।
स्वच्छन्दं पर्वतादींश्चलयति सपदि स्थापयेच्चापि कामं
पृथ्वीसिद्धौ तदेतज्जनयति जनताश्चर्यमध्यात्मसिद्धः ॥ १७ ॥ २२७

शस्त्राघातपरम्परां जलभरे रेखामिवामीलयेत्
[२]सर्वोपद्रवविद्रवं वितनुते तोयाभिषेकक्रमात् ।
धातून् काञ्चनतां नयेदपि शकृन्निष्ठ्यूतमूत्रादिभि-
र्योगी सिद्धिगते जले तदखिलं चित्रं समासूत्रयेत् ॥ १८ ॥ २२८

देशैः कालैर्व्यवहितमपि व्यज्यते वस्तु दूराद्
उद्योतश्रीः प्रसरति तमः स्तोममुच्छिद्य सद्यः ।
सञ्जायन्ते तुहिनशिशिराश्चन्द्ररश्मेर्मयूखा-
स्तेजःशुद्धौ भवति दहनः किञ्च निर्देशवर्ती ॥ १९ ॥ २२९

चेतोवृत्त्या वाञ्छितं याति देशं दूरादुक्तां वाचमुच्चैः शृणोति ।
स्वैरं देहानाविशेदुत्सृजेद्वा वायोः सिद्धौ सर्वमेतद् विधत्ते ॥ २० ॥ २३०

शून्यं धातुर्जायते व्योमसिद्धौ तस्यां सत्यां सिद्धयस्ताः समस्ताः ।
उच्चैः किंच न्यञ्चिताशेषविश्वं तस्याऽवश्यं स्यात् परं धाम वश्यम्
॥ २१ ॥ २३१

१. मानुषस्य । २. क्षुद्रोपद्रव ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इत्थं जाते भूतजाते स्ववश्ये विश्वं पश्यन्निर्विशेषादशेषम् ।
योगी रोगोपद्रवैर्वर्जिताङ्गः स्वस्य स्वैरं दीर्घमायुस्तनोति ॥ २२ ॥ २३२

कैश्चिन्मूढैरहह । जडतावासवेश्मायमानै-
र्मानग्रन्थिग्रथितहृदयैर्दम्भसंरम्भसारैः[१] ।
पिण्डस्थैर्यं प्रति निजमनःसंनिवेशेऽप्यनीशै-
रध्यात्मस्य स्फुरितममलं नीयते पङ्किलत्वम् ॥ २३ ॥ २३३

आलस्यवश्यमनसो यदि नैव सिद्धि - र्योगस्य दूषणपदं न तदा वदामः ।
यन्नैव पङ्गुरधिरोढुमलम्भविष्णु - र्दोषः स एष किमु नाम नगेश्वरस्य ?
॥ २४ ॥ २३८

येषामालस्यपङ्कादपसरति मनो ये कृपाम्भःप्रवाहा
ये ध्वस्ताशेषदोषाः समतृणमणिता येषु जागर्ति नित्यम् ।
तेषां निःशेषसिद्धिव्यतिकरजनितप्राज्यस(सा)म्राज्यभाजां
योगीन्द्राणामतन्द्राः परमपदभुवः सिद्धयः सम्भवन्ति ॥ २५ ॥ ३३५

इति श्री **समुच्चय**विरचिते **आनन्दसमुच्चया**भिधाने श्रीयोगशास्त्रे
सिद्धिप्रकरणं सप्तमं समाप्तम् ॥

यदिह परपुमर्थः प्रार्थ्यते योगिभिर्यत्(द्)
विदधति किल दास्यं तस्य ताः सिद्धयोऽपि ।
तदिदमपविकल्पस्वान्तसंवित्तिरूपं
परमपदमिदानीमुच्यते सप्रपञ्चम् ॥ १ ॥ २३६

अमूर्तं त[२] - - त्वं कथमपि भवेन्मूर्तिकलितं
स्वरूपेणाऽमूर्तं तनुपरिणतावेतदतथा ।
अपि स्थूलं सूक्ष्मं ध्रुवमपि न नित्यं गतगुणं
गुणैरप्याक्रान्तं ननु तनुगतं सर्वगमपि ॥ २* ॥ २३७

---

१. **संभारसारैः** । २. '**तत्तत्त्वं**' इति संभवेत् । * अत्र प्रतौ टिप्पिताः ३ श्लोकाः प्रकरणस्यान्तभागे द्रष्टव्याः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चैतन्यं यस्य रूपं क्षिति-जल-पवन-ज्योति-राकाशसंज्ञे
भूतग्रामे शरीरानुकृतिपरिणते व्यज्यते सर्वतोऽपि ।
अप्यैकैकं तु तेभ्यः किमपि यदि वियुज्येत भूतं तदानी -
मव्यक्तं चित्स्वरूपं भवति 'मृत' इति प्रत्ययस्याऽऽदिबीजम् ॥ ३ ॥ २३८

भूतेषु पञ्चसु शरीरतया स्थितेषु व्यक्तीभवन्मननचिन्तनतश्चिदात्मा ।
उन्मीलितेषु जलजन्मसु तन्मयोऽपि गन्धो यथा किमपि भिन्न इवाऽवभाति
॥ ४ ॥ २३९

यदा चिदात्मा बहिरिन्द्रियार्थ - प्रथानुकूल्येन मनो नियुङ्क्ते ।
भवेत् तदानीं तदुपाधिदुःख- परम्पराऽमुष्य सुखैषिणोऽपि ॥ ५ ॥ २४०

यथा हि वह्निर्बहिरिन्धनेषु लब्धावकाशो भृशमेधतेऽसौ ।
मनः प्रसर्पद् विषयेष्वमीषु तथैव न श्राम्यति कामचारात् ॥ ६ ॥ २४१

आत्मन्येव मनो नियोज्य विषयद्वाराणि सर्वात्मना
योगेन प्रतिरुध्य शुध्यति पुनर्योगीश्वरः कोऽपि यः ।
तस्य स्यादमनस्कतापरिचयात् पञ्चेन्द्रियस्याऽप्यहो ।
स्पष्टानिन्द्रियता ततः स्थिरतरस्तत्त्वावबोधोदयः ॥ ७ ॥ २४२
ध्यानाभ्यासाद्विषयविमुखाद् भूतसाम्योपयुक्ता -
दात्मारामस्तदनु तनुते शाश्वतं स्वस्य देहम् ।
तस्याऽऽज्ञातः प्रभवति विषं व्याधयो वा न जन्तो -
र्जीवन्मुक्तः स भवति ततः कोऽपि लोकोत्तरश्रीः ॥ ८ ॥ २४३
न किञ्चिदपि चिन्तयेत्तदनु शून्यतत्त्वं परं
ततश्च सहजोदयः स्फुरति निर्विकल्पोज्ज्वलः ।
ततः प्रभृति नो सुखी स खलु नापि दुःखी च वा
प्रमेयमवबुध्यते किमपि नापि वाञ्छत्यसौ ॥ ९ ॥ २४४
पृथिव्याद्याधारः क्षरदमृतरोचिःशुचिसुधा -
कलासान्द्रः शाम्यत्तपनकरतापव्यतिकरः ।
[1]मुहुः स्वेच्छाचर्या प्रसवभरसौरभ्यसुभगः
किमप्यात्मारामः फलति परमब्रह्मणि लयम् ॥ १० ॥ २४५

१. मरुत् - प्र. ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यथा हि नद्यः सरितामधीशं विशन्ति सर्वाः स्वरसप्रवृत्त्या ।
तथैव षण्णामपि तत्त्वमार्गाः समाधिमार्गं फलतोऽनुयान्ति ॥ ११ ॥ २४६

तथा हि **शाक्यव्रतिनो** मनोज्ञ-शय्यासनाहारविहारवन्तः ।
ध्यानाध्वनैकेन सयुक्ति मुक्ति - मित्थं समासादयितुं यतन्ते ॥ १२ ॥ २४७

वैराग्योपचयाद् विधूय विषयव्यासङ्गमङ्गीकृत-
ध्यानस्थानकशुद्धिसंचितविदां नैरात्म्यतत्त्वं प्रति ।
पर्यायेण [१]विलीनमानसमलप्राचीनचित्तक्षणो -
न्मीलन्निर्मलचित्तसन्ततिरहो । मोहद्रुहां जायते ॥ १३ ॥ २४८

मुक्तिः सैव तदेव तत्त्वमसमं निःशेषदुःखक्षयः
संक्षेपात् कृतिनां स एव सुखमप्युच्चैस्तदावेदितम् ।
इत्थं चिन्मयमेनमात्मविभवं सम्भावयन्तः क्षणा -
दध्यात्मोपनिषन्निषण्णमनसस्तस्मादमी **सौगताः** ॥ १४ ॥ २४९

नैयायिका अपि जनव्यवहारमात्रं संसिद्धये किमपि यत्तदपि ब्रुवन्तु ।
तत्त्वं तु योगविधिनैव विवेचयन्त-स्तेऽपि प्रतीतिविषयं घटयन्ति साक्षात्
॥ १५ ॥ २५०

श्रोतव्यः श्रुतिशास्त्रतः स्वमनसि स्थाप्यस्ततो युक्तिभि-
र्ध्यातव्योऽथ तथा निवृत्तविषयव्यासङ्गसङ्गीतकैः ।
आत्मा शुद्धसमाधिबद्धमनसां येनैष साक्षाद् भवे -
दित्यूचे श्रुतिरेव तत्त्वविषयज्ञानाय योगं परम् ॥ १६ ॥ २५१

[२]योगाभ्यासादात्मतत्त्वस्य येयं साक्षाद्बुद्धिर्दुःखविध्वंसहेतुः ।
जीवन्मुक्तिः सैव **यौगैरभीष्टा** यस्यां योगी तत्त्ववाचाममधीष्टे ॥ १७ ॥ २५२

यथा दाह्यं बाह्यं दहति वनवह्निः प्रसृमर -
स्ततः शाम्यत्युच्चैरधिकमधिकं तत्तनुतया ।
सुखं दुःखापेक्षं निखिलमपि निर्धूय सुधियां
तथा तत्त्वज्ञानं स्वयमपि कृतार्थं विरमति ॥ १८ ॥ २५३

[३]अतः संसाराब्धेस्तटभुवमभि[४]व्याप्तजगतः
परं सिद्धेर्धाम श्रयति यतिचर्यासु विमुखः ।

---

१. विलीय । २. ध्यानाभ्यासा० । ३. ततः । ४. ०मपि व्याप्य ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तदध्यात्मक्षेमप्रणयिनि पथेऽस्मिन्नवितथे
प्रसर्पन्तो **यौगाः** किमिव न भवेयुः शिवमयाः ॥ १९ ॥ २५८

कपिलकल्पिततत्त्वकथाममी तदनुगाः कथयन्तु यथा तथा ।
परपदं तु विशेषण एव तै-र्न खलु योगवियोगवतां मतम् ॥ २० ॥ २५५

यावद् बुद्धिर्ममत्वं सुखमसुखमिदं कर्मबुद्धीन्द्रियाणि
क्लेशावेशैकहेतुः परिमितसुखकृत् किञ्च तन्मात्रमैत्री
इत्येवं पूरुषस्य प्रसरति परितः प्राकृतोऽयं विकारः
संसारस्तावदेव प्रकृतिविकृतिभिश्छन्नचैतन्यतत्त्वः ॥ २१ ॥ २५६

आधिव्याधिप्रजननमनःक्लेशनिर्वेशमुख्यं
दुःखैकान्तं प्रकृतिजनितं सर्वतः सम्प्रधार्य ।
सम्यग् योगी गुणविरहितं कर्तृशक्तिव्यतीतं
ध्यायेदुच्चैः स्थिरतरचिदानन्दमध्यात्मतत्त्वम् ॥ २२ । २५७

अवगतः प्रकृतेः प्रकृतिस्ततो विरमति स्वयमेव हि पूरुषात् ।
विदितदुश्चरिता युवतिर्यथा श्लथयति प्रणय(यि)न्यपि विभ्रमम् ॥ २३ ॥ २५८

निवृत्तव्यापारप्रकृतिरतिवृत्तेन्द्रियगणः
पुमान् मोहेनाऽन्तर्बहिरपि न लिप्येत स यदा ।
स्वरूपं चिन्मात्रं निरुपधि विशुद्धं कलयत-
स्तदा मुक्तिस्तस्येत्यखिलमहितं योगललितम् ॥ २४ ॥ ३५९

भेदितापारसंसारदुर्यामिकाः सम्भवद्भूतवैषम्यदोषक्षयाः ।
जाग्रदुद्योगयोगप्रधानाध्वनाऽनेन **साङ्ख्याः** कथं निर्वृतिं नाऽऽप्नुयुः ?
॥ २५ ॥ ३६०

मीमासंकाः अपि कुटुम्बकदर्थनाभि-रैदंयुगीनतनवो गतयोगरङ्गाः ।
उच्चावचा यजनयाजनमुख्यकर्म-कष्टासिकां स्वमतिभिः परिकल्पयन्तु[1]
॥ २६ ॥ २६१

यतः- स्वीकृत्य ब्रह्मचर्याश्रममसमतमब्रह्मसंस्कारहेतोः
सेवित्वा धर्मपत्नीमृतुसमयमयीं शुद्धसन्तानसिद्ध्यै ।

---

१. ०कल्पयन्ति ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वानप्रस्थोऽपि भूत्वा परिशटितकफलाहारपूतान्तरात्मा
ब्रह्माद्वैताय चेतो नियमयति यतिस्थानकस्थस्ततोऽपि ॥ २७ ॥ २६२

स्फुरच्चिदानन्दमयेन तेजसा ब्रह्मात्मसंज्ञेन जगत्त्रयस्पृशा ।
अभिन्नमात्मानममुं विचिन्तयेत् ततश्चतुर्थाश्रमसीमनि स्थितः ॥ २८ ॥ २६३

अविद्याविध्वंसस्थिरतरसमाधिव्यतिकर –
क्रमोन्मीलद्विद्याकलितपरमब्रह्ममहिमा ।
प्रपञ्चोऽयं मिथ्येत्यधिकमधिगम्य स्फुटधिया
परब्रह्माद्वैते लयमयमुपैति प्रतिकलम् ॥ २९ ॥ २६४

दुर्वर्णं लभते सुवर्णमयतां सिद्धौषधैः शोधितं
यद्वत् तद्वदयं समाधिसुधिया निर्धौतदुर्वासनः ।
जीवात्मा लभते विशुद्धपरमब्रह्मात्मतामित्यहो ।
योगस्फूर्जितमूर्जितं विजयते मोक्षैकहेतुः परम् ॥ ३० ॥ २६५

वराकश्चार्वाकः किमपि यदि जल्पत्यनुचितं
यदृच्छा तत्रास्य त्रिदिवलिपिलोपं विदधतः ।
परं योगस्थैर्याद् विषयविनिवृत्त्या सुखमयी –
मिमां जीवन्मुक्तिं कथमिव निषेद्धुं प्रभवति ? ॥ ३१ ॥ २६६

समाधिशुद्ध्याऽद्भुतभूतसिद्ध्या सिध्यन्ति विश्वेऽभिमतानि यस्य ।
[2]नास्त्येव चित्तेऽभिमतं तु किञ्चित् त्वामेव हे **नास्तिक** । मुक्तमाहुः
॥ ३२ ॥ २६७

जिनस्तु नासाग्रनिविष्टदृष्टिः पद्मासनस्थः श्लथगात्रयष्टिः ।
ऐदंयुगीनेषु जनेषु मन्ये ध्यानं दिशत्यद्भुतमुद्रयैव ॥ ३३ ॥ २६८

तथाहि – धर्मध्यानमुपास्य तत्त्वविषये सिद्धान्तसन्धानतः
शुक्लध्यानधनञ्जयेन कुरुते कर्मेन्धनं भस्मसात् ।
कैवल्यं कलयत्यनिन्द्रियतया योगानुभावात्तथा
विज्ञानाम्बुनिधौ चकासति यथा भावास्तरङ्गा इव ॥ ३४ ॥ २६९

---

१. **कल्पयन्ति** । २. नास्त्येव **तस्याभिमतं नु किंतु** – पा ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कृत्वा च स्वपरोपकारमसकृन्नम्राखिलाखण्डलः
खेलत्कुण्डलिनीकलानियमितस्वस्वान्तकान्तस्थितिः ।
काष्ठीं योगकलां गतः परमयोगित्वेन सत्त्वाधिकः
स स्यान्निर्वृतिकण्ठपीठविलुठन्मुक्तावलीमध्यगः ॥ ३५ ॥ २७०

इत्येवं तत्त्वमार्गाः षडपि जडतया भेदमन्योन्यमेते
मुद्राऽनुष्ठानवेषैः स्वरुचिविरचितैः सर्वतो दर्शयन्ति ।
अन्योन्यं बाधितानां प्रमितिविषयतां कोऽनुमन्येत तेषां
तस्माद् विश्वाभ्युपेतं जनितपरपदं योगमेवाऽऽश्रिताः स्मः ॥ ३६ ॥ २७१

इति प्रकरणाष्टकं स्फुरति यस्य कर्णान्तिके
गिरामथ च गोचरे चरति यस्य चेतस्विनः ।
दुरन्तदुरितोदयच्छिदुरमस्य विश्वोत्तरं
पदं सपदि सम्पदः पदमदम्भभुज्जृम्भते ॥ ३७ ॥ २७२

अवल्गं वल्गन्तीं जगति **परमाणो**र्गिरिगुरोः
श्रवन्तीं ग्रन्थाध्वश्रितममृतरूपां गिरमिमाम् ।
विकल्पैरल्पोक्तैर्मलिनयत मा सिद्धवचसां
निरीहाणां वाचः किमु विपरियन्ति क्वचिदपि ॥ ३८ ॥ २७३

इति श्री **समुच्चय**विरचिते **आनन्दसमुच्चया**भिधाने श्रीयोगशास्त्रे मुक्तिप्रकरणमष्टमम् ॥

संस्थानभङ्गिर्मवगच्छति देहलीनां सिद्धावलम्बविधिपूरितकर्णयुग्मः ।
शाखादिकैरवयवैः सममुत्तरङ्गं चेतः स्थिरं धरति योगकलासिकाभिः
॥ ३९ ॥ २७४

द्वाराणि साधयति साधितपीठबन्ध – श्छिद्राणि मुद्रयितुमञ्चितं विधत्ते ।
काष्ठें कलामनुगतो गुरुपादुकाना–मन्तर्निवेशपटुतां परिबिभ्रदित्थम्
॥ ४० ॥ २७५

---

१. मधिगच्छति ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यो विश्वकर्मपरिकर्मभिरात्मदेह - प्रासादमादरपरः स्थिरमादधाति ।
स **श्रीसमुच्चय**मनिन्द्यमगण्यपुण्य-प्रागल्भ्यलभ्यमधिगच्छति नित्यमेव
॥ ४१ ॥ २७६

इतिश्री **आनन्दसमुच्चया**भिधानं श्रीयोगशास्त्रं समाप्तम् ॥ श्रीः ॥
शुभं भवतु ॥

ध्यानानि चतुरशीति ध्येयरूपाणि संख्यया ।
सप्ततिर्द्व्यधिका नाड्यः सहस्रा वपुषि स्थिताः ॥ १ ॥ २७७
इमा मुख्या दश प्रोक्ताः प्राणादिवायवो दश ।
नव मन्त्राख्यचक्राणि चान्द्र्यः कलाश्च षोडश ॥ २ ॥ २७८
कला द्वादश तिग्मांशोः पञ्चभूतस्य साम्यता ।
ब्रह्माण्डाचरणे सिद्धि - मुक्तिर्मोक्षपदे क्रमात् ॥ ३ ॥ २७९
उक्तं **समुच्चये**नेदं शास्त्रे **समुच्चया**भिधे ।
ज्ञेयं सदा सदाचारै - र्ज्ञानविज्ञानसिद्धये ॥ ४ ॥ २८०

इत्यानन्दसमुच्चयः समाप्तः ॥

तावद् भ्रमति नावार्थी यावत् पारं न गच्छति ।
सम्प्राप्ते तु परे पारे नावया किं **प्रयोजनम्** ? ॥ १ ॥
एवं शास्त्रादावपि ॥
चले चित्ते वनं (धनं) लोकः स्थिरे चित्ते वनं जनः ।
परमात्मनि विज्ञाते मनो नौकूपकाकवत् ॥ २ ॥

परपुंसि रता नारी भर्तारमनुवर्तते ।
एवं तत्त्वरतो योगी संसारमनुवर्तते ॥ १ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुराणे भारतं सारं गीता सारं च भारते ।
तत्रापि च षडध्याया - स्ततोऽपि हि शनैः शनैः ॥ १ ॥

शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥ २ ॥

अष्टमे प्रकरणे द्वितीयश्लोके टिप्पिताः ३ श्लोकाः-

यस्य मध्ये गतं विश्वं विश्वमध्ये गतं तु यत् ।
समरसं सहजं यच्च तत्तत्त्वं परमं विदुः ॥ १ ॥

सर्वाधारं निराधार - माधारातीतगोचरम् ।
अनौपम्यममूर्तं च परमात्मा स उच्यते ॥ २ ॥

दिशश्च विदिशश्चैवा - ध ऊर्ध्वं नैव विद्यते ।
यस्य देवविशेषस्य परमात्मा स उच्यते ॥ ३ ॥

आवरणचित्र-परिचय

मांडवी-कच्छस्थित खरतरगच्छ संघ जैन ज्ञानभण्डारनी उतावळी मुलाकात लेवानो प्रसंग आव्यो ते वखते त्यां उपाश्रयमां श्रीपूज्यजीनी परम्परागत गादीनी काष्ठपाट हती ते पण जोवामां आवी. ते पाट परना पीठ टेकववाना पाटियाना उपरना भागे आ शिल्प कोतरवामां आवेलुं जोयुं. सम्भवतः सूर्यनुं आ शिल्प छे. पण तेनी कला उपर कोई विलक्षण असर होवानुं लाग्या करे छे, ते तज्ज्ञो माटे अभ्यासनो विषय बनी शके, कदाच. पाट एक सैका करतां वधारे पुराणी हशे, एम जरूर कही शकाय. वारंवार अणघड रीते थता रंग-रोगानने कारणे विकृत बन्या लागता शिल्पमां पण तेनी असल शैली महदंशे जळवाई रही होवानुं लागे छे.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org